अथ नवमोऽध्यायः

राजविद्याराजगुह्ययोग

(परम गोपनीय ज्ञान)

श्रीभगवानुवाच ।
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! तुझ ईर्ष्यारहित शुद्धभक्त के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार के क्लेशों से मुक्त हो जायगा।।१।।

तात्पर्य

भक्त भगवान् की कथा को जितना अधिक सुनता है, उतना ही प्रबुद्ध होता जाता है। इस श्रवण-पद्धति की महिमा का श्रीमद्भागवत में गान है, 'श्रीभगवान् की कथा दिव्य शक्तियों से पूर्ण है, जिनकी अनुभूति भक्तों की गोष्ठी में उत्सुकतापूर्वक भगवत्कथा का श्रवण-कीर्तन करने से होती है। मनोधर्मियों अथवा लौकिक विद्वानों के

संग से इस विज्ञान को नहीं जाना जा सकता।'

भगवद्भक्त नित्य-निरन्तर भगवत्सेवा के परायण रहते हैं। कृष्णभावना-परायण जीव के मनोभाव और निष्कपटता को जानने वाले श्रीभगवान् उसे वह बुद्धि देते हैं, जिससे वह भक्तों के संग में उनके तत्त्व को हृदयंगम कर ले। श्रीकृष्ण-विषयक चर्चा में अलौकिक शक्ति है। यदि किसी सौभाग्यशाली को ऐसा सत्संग सुलभ है और वह इस ज्ञान के लिए प्रयत्नशील है, तो भगवत्प्राप्ति के पथ में उसकी प्रगति निश्चित है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी सर्वसमर्थ सेवा के उत्तरोत्तर उत्तम स्तर को प्राप्त करने के लिए उत्साहित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस नौवें अध्याय में उस रहस्य का वर्णन किया है, जो सम्पूर्ण पूर्व विषय से अधिक गोपनीय है।

भगवद्गीता का प्रथम अध्याय शेष ग्रन्थ का उपोद्घात है। दूसरे और तीसरे अध्याय में आये मोक्षोपयोगी ज्ञान को **गुह्य** (गोपनीय) कहा गया है। सातवें तथा आठवें अध्याय का विषय विशेष रूप से भक्तियोग से सम्बन्धित है। कृष्णभावनामृत का प्रकाशक होने से यह प्रकरण **गुह्यतर** (अधिक गोपनीय) है। परन्तु नौवें अध्याय में तो केवल शुद्धभक्ति का वर्णन है। इसलिए यह अध्याय **परम गुह्यतम्** (परम गोपनीय) है। श्रीकृष्ण के परम गोपनीय ज्ञान से युक्त महानुभाव निस्सन्देह प्रकृति से परे हो जाता है; प्राकृत जगत् में रहते हुए भी उसे कोई सांसारिक दु:ख नहीं सताता। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कथन है कि जो पुरुष वास्तव में सदा श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा के लिए उत्कण्ठित रहता है, वह संसार-बन्धन में प्रतीत होने पर भी वास्तव में मुक्त है। भगवद्गीता के दसवें अध्याय में श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि जो इस प्रकार भक्तियोग के परायण है, वह पुरुष जीवन्मुक्त है।

इस प्रथम श्लोक का विशेष महत्त्व है। **इदं ज्ञानम्** का अभिप्राय शुद्ध भक्तियोग से है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और सर्वात्म-समर्पण—भक्तियोग के इन नौ अंगों के आचरण से कृष्णभावनामृत प्राप्त होती है। हृदय-शुद्धि हो जाने पर ही इस कृष्णविज्ञान को जाना जा सकता है। केवल यह जानना पर्याप्त नहीं कि जीवात्मा अप्राकृत है। यह तो भगवत्प्राप्ति के पथ का केवल प्रथम चरण है। वास्तव में जीव के लिए शारीरिक क्रियाओं और अप्राकृत क्रियाओं के भेद को जानना आवश्यक है; इससे यह जागृति होती है कि 'मैं देह नहीं हूँ।'

सातवें अध्याय में श्रीभगवान् की ऐश्वर्यशालिनी सामर्थ्य, परा-अपरा आदि नाना शक्तियों और इस प्राकृत सृष्टि का वर्णन हुआ । सम्प्रति, नौवें और दसवें

अध्याय में भगवान् की कीर्ति का गान है।

अनसूयवे पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः उच्च विद्वान् होने पर भी गीता के प्रायः सभी व्याख्याकार भगवान् श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करते हैं। बड़े से बड़े विद्वान् तक भगवद्गीता की बिल्कुल अशुद्ध व्याख्या कर बैठते हैं। उनके भाष्य बिल्कुल निरर्थक हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण के प्रति ईर्ष्या से भरे हैं। भगवद्भक्तों द्वारा रचित टीकायें ही प्रामाणिक मान्य हैं। जो श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करता है, वह न तो भगवद्गीता का वर्णन कर सकता है और न श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान ही दे सकता है। जो श्रीकृष्ण के तत्त्व को न जानते हुए उनके चरित्र पर आक्षेप करता है, वह मूढ है। अतः ऐसे भाष्यों को बड़ी सावधानी से त्याग देना चाहिए। जो पुरुष जानता है कि श्रीकृष्ण शुद्ध दिव्य पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं, उसके लिए ये अध्याय परम कल्याणकारी हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

अनुवाद

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सम्पूर्ण गोपनीय रहस्यों का राजा, परम शुद्ध और स्वरूप-साक्षात्कार कराने वाला परम धर्म है। यह अविनाशी है और साधन करने में बड़ा सुगम है।।२।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

अनुवाद

हे शत्रुविजयी अर्जुन! जो इस भक्तियोग के पथ में श्रद्धाहीन हैं, वे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वे इस मृत्युरूप संसार में ही बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं।।३।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

अनुवाद

मेरे प्राकृत इन्द्रियों से अतीत अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। सम्पूर्ण चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ।।४।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को कुंठित जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह सिद्धान्त है कि भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, यश, लीला-विलास आदि को जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो प्रामाणिक आचार्य के आश्रय में शुद्ध भक्तियोग के परायण है, उस भक्त के हृदय में ही वे प्रकट होते हैं। 'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है, **प्रेमाञ्जनच्छुरित**—भगवान् गोविन्द के प्रति अनुरागमय प्रेमभाव का सेवन करने से अन्तर में और बाहर भी उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। अत· जनसाधारण के लिए वे अगोचर हैं। यहाँ उल्लेख है कि यद्यपि वे सर्वव्यापक हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं, पर जड़ इन्द्रियों से उनकी अनुभूति नहीं होती। परन्तु चाहे हम उन्हें देख नहीं सकते, फिर भी सब कुछ वस्तुतः उन्हीं के आश्रय में स्थित है। सातवें अध्याय के अनुसार, सम्पूर्ण विश्वीय सृष्टि उनकी परा-अपरा नामक शक्तियों का समुच्चयमात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूर्यकिरणराशि के विस्तार के समान भगवत्-शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में विस्तीर्ण हो रही है; सब कुछ उसी के आश्रय में है।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि श्रीभगवान् सर्वव्याप्त हैं, इसलिए उनका अपना निजी स्वरूप समाप्त हो गया है। इस कुतर्क का निराकरण करने के लिए श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं सर्वव्यापक हूँ और सब कुछ मेरे आश्रित है, फिर भी इस सम्पूर्ण सृष्टि से मैं असंग हूँ।' उदाहरणस्वरूप, राजा अपने प्रशासन का अधीश्वर होता है, प्रशासन उसकी शक्तियों का एक प्रकाशमात्र है। विविध प्रशासकीय विभाग राजा की विभिन्न शक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक विभाग राजा की सामर्थ्य पर आश्रित है। परन्तु राजा से यह आशा नही की जाती कि वह प्रत्येक विभाग में स्वय उपस्थित रहेगा। यह एक स्थूल उदाहरण है। इसी प्रकार हम जो कुछ भी देखते हैं, प्राकृत-अप्राकृत जितनी सृष्टि है, वह सब श्रीभगवान् की शक्ति पर आश्रित है। उनकी विभिन्न शक्तियों के प्रसारण से सृष्टि होती है और जैसा भगवद्गीता में कहा है, अपनी शक्तियो के प्रसारण और स्वाश-प्रकाश के रूप में वे सर्वत्र विद्यमान हैं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

अनुवाद

और यह सृष्टि भी मुझमें स्थित नहीं है। मेरे इस योगैश्वर्य को देख! सम्पूर्ण जीवों को धारण-पोषण और उत्पन्न करने वाला होने पर भी मेरा आत्मा उनमें स्थित नहीं है।।५।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

अनुवाद

जैसे सब ओर विचरणशील वायु नित्य आकाश में स्थित रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों को मुझ में स्थित जान।।६।।

तात्पर्य

जनसाधारण के लिए यह सत्य प्रायः अचिन्त्य है कि महान् प्राकृत सृष्टि किस प्रकार भगवान् के आश्रित है। अतएव इस सत्य को लोकबुद्धि मे प्रवेश कराने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण आकाश का दृष्टान्त दे रहे हैं। इस सृष्टि में हमारी कल्पना-शक्ति के लिए आकाश सबसे बड़ा है। सम्पूर्ण सृष्टि आकाश पर अवलम्बित है। इस आकाश में अणु से लेकर सूर्य, चन्द्र आदि बड़े से बड़े ग्रह परिभ्रमण कर सकते हैं। महान् वायु भी आकाश में स्थित है; वह आकाश से अतीत नहीं है।

इसी प्रकार, सम्पूर्ण आश्चर्यमयी सृष्टि श्रीभगवान् के संकल्प के आधार पर स्थित है और पूर्ण रूप से उसी के आधीन है। जैसा लोकप्रसिद्ध है, भगवत्-इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार सब कुछ उन्हीं के संकल्प के अनुसार हो रहा है। उनके संकल्प से सारी सृष्टि होती है, सबका पालन होता है और अन्त में नाश होता है। फिर भी, वे सबसे असंग हैं, उसी भाँति जैसे गगन वायुमण्डल से सदा असंग है। उपनिषद्-वाणी है. श्रीभगवान् के भय से ही वायु विचरता है।' **गर्गोपनिषद्** में कहा है, 'श्रीभगवान् की आज्ञा की आधीनता में चन्द्र, सूर्य आदि भीमकाय ग्रह घूम कर रहे हैं।' ब्रह्मसंहिता में भी इसका उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि तेज और प्रकाश के विस्तार की अनन्त शक्तिवाला सूर्य श्रीभगवान् का एक चक्षु है। श्रीगोविन्द की आज्ञा और सकल्प के अनुसार वह अपनी निश्चित कक्षा में घूम रहा है। इस प्रकार, वैदिक साहित्य से प्रमाणित होता है कि अति अद्‌भुत एवं महान् प्रतिभासित होने वाली यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के नियन्त्रण में है। अगले श्लोकों में इस तथ्य का अधिक विशद वर्णन है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

अनुवाद

हे अर्जुन! कल्प का अन्त होने पर सम्पूर्ण सृष्टि मेरी प्रकृति में लय हो जाती है

और नए कल्प के आरम्भ में अपनी शक्ति द्वारा मैं उसे फिर रचता हूँ।।७।।

तात्पर्य

इस प्राकृत सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के परम संकल्प पर निर्भर करता है। कल्पक्षय का अर्थ ब्रह्मा की मृत्यु से है। ब्रह्मा के जीवन की अवधि सौ वर्ष है, जिसका एक दिन पृथ्वी के ४,३०,००,००,००० वर्षों के तुल्य है। उसकी रात्रि की भी यही परिधि है। इस परिमाण के तीस दिवा-रात्रि से उसका एक मास बनता है और बारह मास का एक वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों के बाद ब्रह्मा का देह शान्त होने पर प्रलय हो जाती है। इसका अर्थ है कि श्रीभगवान् द्वारा अभिव्यक्त की गई शक्ति पुनः उन्हीं में लय हो जाती है। समय आने पर उनकी इच्छानुसार फिर सृष्टि-प्रकाश होता है। वैदिक सूक्ति है, 'एक होने पर मैं बहुरूप धारण करूँगा।' इस संकल्प से वे माया शक्ति में अपना प्रकाश करते हैं और सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि फिर प्रकट हो जाती है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

अनुवाद

सम्पूर्ण सृष्टि मेरे आधीन है। मेरे सकल्प से ही यह बारंबार प्रकट होती है और मेरे ही सकल्प से अन्त में इसका नाश होता है।।८।।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

अनुवाद

हे धनंजय ! यह सब कार्य मेरे लिए बन्धनकारी नहीं हो सकता, क्योंकि मैं इसमें उदासीन के समान अनासक्तभाव से स्थित हूँ।।९।।

तात्पर्य

इस सन्दर्भ में यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीभगवान् निष्क्रिय हैं। अपने वैकुण्ठ-जगत् में वे नित्य क्रीड़ारत हैं। ब्रह्मसंहिता में उल्लेख है : 'प्राकृत क्रियाओं से सर्वथा असंग होते हुए भी वे अपनी आनन्दचिन्मयरसात्मिका लीला में नित्य तत्पर हैं।' प्राकृत क्रियाएँ उनकी विविध शक्तियों द्वारा घटती हैं; श्रीभगवान् स्वयं सृष्ट जगत् की संपूर्ण प्राकृत क्रियाओं से नित्य उदासीन रहते हैं। यहाँ उनकी इस उदासीनता का वर्णन है। जड़ प्रकृति पूर्णरूप से उनके आधीन है, फिर भी वे उदासीन के सदृश बैठे हैं। इस सन्दर्भ में न्यायाधीश का दृष्टान्त उल्लेखनीय है। वह स्वयं अपने

आसन पर बैठा रहता है, परन्तु उसकी आज्ञा से कितनी ही घटनायें घटित होती हैं—किसी को प्राणदण्ड दिया जाता है, किसी को कारावास तो किसी को विपुल लक्ष्मी; परन्तु इस सबसे वह स्वयं सर्वथा असंग है। उस हानि-लाभ से उसे कोई प्रयोजन नहीं। ऐसे ही, यद्यपि प्रभु का हाथ हर कार्यक्षेत्र में रहता है, फिर भी वे सबसे असंग हैं। 'वेदान्तसूत्र' में उल्लेख है कि वे इस जगत् के द्वन्द्वों से अतीत हैं। इस ससार के सृजन-संहार में भी उनकी आसक्ति नहीं है। जीव पूर्वकर्म के अनुसार नाना योनियों को ग्रहण करते हैं, श्रीभगवान् इसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत् का बारम्बार सृजन और संहार होता है।।१०।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

अनुवाद

मेरे नराकार में अवतरित होने पर मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के निज स्वरूप को नहीं जानते।।११।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

अनुवाद

जो इस प्रकार संमोहित हैं, वे आसुरी तथा अनीश्वरवादी स्वभाव को धारण किये रहते है। उस मोहमयी अवस्था में उनकी मुक्ति की आशा, उनके सकाम कर्म और उनके द्वारा अर्जित ज्ञान आदि सभी कुछ निष्फल हो जाता है।।१२।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

अनुवाद

परन्तु हे पार्थ ! मोहमुक्त महात्माजन तो मेरी दिव्य प्रकृति के आश्रित होकर और मुझे अविनाशी आदिपुरुष जानकर अनन्य चित्त से मेरी भक्ति के ही परायण रहते हैं।।१३।।

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि महात्मा वास्तव में कौन है। सच्चे महात्मा का प्रथम लक्षण यह है कि वह दिव्य प्रकृति में स्थित रहता है; माया के आधीन नहीं होता। इस स्थिति को प्राप्त करने की विधि का निर्देश सातवें अध्याय में है। जो भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होता है, वह अविलम्ब मायामुक्त हो जाता है। इस पथ के लिए यही पात्रता है। भगवान् के चरणकमलों में सर्वात्मसमर्पण करते ही तत्क्षण मायाबन्धन से मुक्ति हो जाती है। मुक्ति का बस यही ऐकान्तिक उपाय है। जीव श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति है; अतः जैसे ही वह माया से मुक्त होता है, वैसे ही दैवी प्रकृति के आश्रय में आ जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् के चरणारविन्द की शरण लेकर जीव महात्मा पद पर आरूढ़ हो सकता है।

महात्मा का ध्यान श्रीकृष्ण से अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं जाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि श्रीकृष्ण आदिपुरुष हैं और सब कारणों के परम कारण हैं। उसे इसमें कुछ संदेह नहीं रहता। ऐसे महात्मा का उदय अन्य महात्माओं अथवा शुद्धभक्तों के संग से होता है। देवताओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, शुद्ध भक्त तो श्रीकृष्ण के चतुर्भुज महाविष्णु आदि अन्य रूपों की ओर तक आकृष्ट नहीं होते। वे तो बस श्रीकृष्ण के वेणुवादननिरत द्विभुज रूप में ही नित्य अनुरक्त रहते हैं। वे किसी देवरूप अथवा मनुष्य से कोई अपेक्षा नहीं रखते; उनका ध्यान कृष्णभावना में केवल श्रीकृष्ण पर एकाग्र रहता है। ऐसे कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण के ध्यान और अचल भगवत्सेवा में ही नित्य निमग्न रहते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

अनुवाद

ये महात्माजन नित्य-निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ निश्चयपूर्वक चेष्टा करते हुए तथा प्रणाम करते हुए भक्तिभाव से निरन्तर मेरी आराधना करते हैं।।१४।।

तात्पर्य

कोई साधारण व्यक्ति नाममात्र देने से महात्मा नहीं बन जाता। सच्चे महात्मा

के स्वरूप लक्षणों का यहाँ वर्णन है। महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के कीर्तन में तन्मय रहता है। नित्य-निरन्तर भगवत्-कीर्तन करने के अतिरिक्त उसे कोई और काम नहीं होता। दूसरे शब्दों में, महात्मा निर्विशेषवादी नहीं हो सकता। सच्चा महात्मा वही है, जो भगवद्धाम, भगवन्नाम, भगवत्-रूप, भगवद्गुण तथा अद्भुत भगवच्चरित्र की स्तुति के रूप में श्रीभगवान् का कीर्तन करे। ये सब भगवत्-तत्त्व सदा कीर्तनीय हैं। अतः सच्चा महात्मा श्रीभगवान् में ही अनुरक्त रहता है।

जो श्रीभगवान् के निर्विशेषरूप—ब्रह्मज्योति में आसक्त है, उसे श्रीमद्भगवद्-गीता में महात्मा नहीं कहा गया है। उसका अगले श्लोक में पृथक् रूप से उल्लेख है। महात्मा किसी देवता अथवा मानव को नहीं पूजता; वह स्वयं श्रीविष्णु के श्रवण, कीर्तन, आदि भक्तियोग के साधनों में तत्पर रहता है, जैसा श्रीमद्भागवत में वर्णन है। उस भक्ति का स्वरूप यह है: **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम्**...। यथार्थ महात्मा में पाँच दिव्य रसों में से किसी एक रस में श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय रहता है। तत्सम्बन्धी सफलता के लिए वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक क्रियाओं से भगवत्सेवानिष्ठ हो जाता है। इसी का नाम पूर्ण कृष्णभावना है।

भक्तियोग में कुछ क्रियाएँ अनिवार्य हैं, जैसे एकादशी, अवतारजयन्ती, आदि उपवासव्रतों का पालन इत्यादि। ये विधि-विधान महान् आचार्यों द्वारा उन्हीं के लिए कहे गये हैं, जो भगवद्धाम में श्रीभगवान् को प्राप्त करने के सच्चे अभिलाषी हैं। महात्माजन इन विधानों का दृढ़ता से पालन करते हैं; अतएव उनके लिए अभिलाषित लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित है।

जैसा अध्याय के द्वितीय श्लोक में वर्णन है, यह भक्तियोग सुगम होने के साथ ही आह्लादपूर्वक सम्पादित किया जा सकता है। इसके लिए किसी कठोर तप-त्याग की अपेक्षा नहीं है। विदग्ध सद्गुरु के आश्रय में गृहस्थी, संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी—किसी भी स्थिति में, विश्व के किसी भी स्थान में, भक्तिभावित जीवन व्यतीत करने वाला कोई भी मनुष्य इस भगवद्भक्तियोग के द्वारा वास्तव में महात्मा बन सकता है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

अनुवाद

दूसरे जो ज्ञान के अनुशीलन में तत्पर हैं, वे मुझे परमेश्वर को अद्वय-रूप में, विविध रूपों में और विश्वरूप में भी उपासते हैं।।१५।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

अनुवाद

क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् स्मार्तकर्म मैं हूँ, पितृतर्पण मैं हूँ, औषधि और मन्त्र भी मैं हूँ तथा मैं ही घी, अग्नि और हवनरूप क्रिया हूँ।।१६।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च।।१७।।

अनुवाद

मैं इस जगत् का पिता, माता, पोषण करने वाला और पितामह हूँ। मैं ही जानने योग्य परम पावन ओंकार हूँ तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।।१७।।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

अनुवाद

प्राप्त होने योग्य गति, सब का पालन करने वाला, परम ईश्वर, शुभ-अशुभ का साक्षी, परमधाम, शरण लेने योग्य, जीवमात्र का सुहृद्, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबका आधार, विश्राम-स्थल और अविनाशी बीज भी मैं हूँ।।१८।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।

अनुवाद

हे अर्जुन! मैं ही सूर्यरूप से जगत् को तपाता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता हूँ और फिर उसे बरसाता हूँ। मैं मूर्तिमान् अमृत और मृत्युरूप हूँ तथा मैं ही सत् और असत् हूँ।।१९।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

अनुवाद

तीनों वेदों में वर्णित कर्मों को करने वाले, सोमरस पीने वाले पापरहित मनुष्य स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञों द्वारा मेरी अप्रत्यक्ष रूप से आराधना करते हैं। वे

अपने पुण्य से स्वर्गलोक को प्राप्त होकर देवताओं के भोगों को भोगते हैं।।२०।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

अनुवाद

वे उस स्वर्गीय विषयसुख को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर फिर इस मृत्युलोक में गिरते हैं। इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड से उन्हें क्षणभंगुर सुख की ही प्राप्ति होती है—वे जन्म-मृत्यु रूप चक्र में पड़े रहते हैं।।२१।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

अनुवाद

परन्तु जो मनुष्य अनन्य-मन से मेरे दिव्य रूप का चिन्तन करते हुए भक्तिभाव सहित मेरा भजन करते हैं, उनके योगक्षेम का मैं स्वयं वहन करता हूँ।।२२।।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो सकाम भक्त श्रद्धासहित अन्य देवताओं को यज्ञ द्वारा उपासते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं; परन्तु उनकी वह आराधना अविधिपूर्वक है, अर्थात् यथार्थ ज्ञान से युक्त नहीं है।।२३।।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

अनुवाद

वास्तव में एकमात्र मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी (लक्ष्य) हूँ। परन्तु वे मेरे इस यथार्थ दिव्य स्वरूप को तत्त्व से नहीं जानते, इसीलिए गिरते हैं, अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं।।२४।।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

अनुवाद

देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं; भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरे भक्त मुझ को ही प्राप्त होते हैं।।२५।।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।

अनुवाद

भक्त प्रेमभक्ति के साथ पत्र, पुष्प, फल, जल आदि जो कुछ भी मेरे अर्पण करता है, उसे मैं प्रीतिसहित खाता हूँ।।२६।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ववर्ती श्लोकों में स्थापित कर चुके हैं कि वे यज्ञों के एकमात्र भोक्ता, परमेश्वर और यथार्थ प्रयोजन हैं। इस श्लोक में उन्होंने बताया है कि कौन-कौन सा समर्पण उन्हें प्रिय है। यदि कोई अन्तःकरण की शुद्धि और जीवन के परम प्रयोजन—प्रेममयी भगवत्सेवा की प्राप्ति के लिए भक्तियोग में तत्पर होने का अभिलाषी हो, तो उसे यह जानना चाहिए कि श्रीभगवान् उससे क्या चाहते हैं। श्रीकृष्ण का प्रेमी उनके लिये उन्हीं पदार्थों का अर्पण करेगा, जो उनके मन के अनुकूल हों; अवाञ्छित अथवा प्रतिकूल वस्तु का अर्पण वह कभी नहीं करेगा। अस्तु, माँस, मछली और अण्डे श्रीकृष्ण के भोग के योग्य नहीं हैं। यदि श्रीकृष्ण इन पदार्थों का अर्पण चाहते, तो वे ऐसा कह देते। इसके विपरीत, उन्होंने स्पष्ट किया है कि उनके लिए पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि पदार्थों का ही अर्पण किया जाय। इस प्रकार के भोग के सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'मैं उसे स्वीकार करूँगा।' अतः यह समझना चाहिए कि वे माँस, मछली और अण्डे स्वीकार नहीं करते। शाक, अन्न, फल, दुग्ध और जल मनुष्य के योग्य आहार हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इनका विधान किया है। इन सात्त्विक पदार्थों के अतिरिक्त हम जो-कुछ भी खायेंगे, वह श्रीकृष्ण को भोग नहीं लगाया जा सकता क्योंकि वे उसे स्वीकार नहीं करते। अतएव यदि हम माँस आदि निषिद्ध पदार्थों का अर्पण करेंगे तो यह प्रेममयी भक्ति के प्रतिकूल होगा।

तीसरे अध्याय के तेरहवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने वर्णन किया है कि एकमात्र यज्ञ से शेष बचा अन्न ही शुद्ध होता है। अतएव जो जीवन में अभ्युदय और मायाबन्धन से मुक्ति के अभिलाषी हैं उनके लिए केवल यही अन्न खाने योग्य है। जो अपने अन्न का अर्पण नहीं करते, उनको भगवान् ने उसी श्लोक में पाप खाने वाला कहा है। भाव यह है कि उनके द्वारा खाए अन्न का एक-एक ग्रास उनके लिए मायाजाल में अधिक बन्धनकारी सिद्ध होता है। दूसरी ओर, स्वादु शाकाहारी व्यंजन· बनाने और श्रीकृष्ण के चित्र अथवा अर्चा-विग्रह को अर्पित करके वन्दनापूर्वक तुच्छ भेंट को स्वीकार करने के लिए उनसे निवेदन करना जीवन की निरन्तर उन्नति, देह की शुद्धि और शुद्ध चिन्तन के योग्य सूक्ष्म बौद्धिक कोशिकाओं के गठन में सहायक है। सबसे अधिक महत्त्व इस बात का है कि भोग प्रेमपूर्वक लगाया जाय। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के एकमात्र स्वामी हैं; अतएव उन्हें भोजन की कोई आवश्यकता नहीं। फिर भी, जो उन्हें इस रीति से प्रसन्न करना चाहता है, उस मनुष्य के नैवेद्य-अर्पण को वे अंगीकार कर लेते हैं। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम का भाव ही भोग को बनाने और अर्पण करने की क्रिया का सार है।

निर्विशेषवादी दार्शनिक परमसत्य को हठपूर्वक इन्द्रियशून्य कहते हैं; इसलिए उनके लिए भगवद्गीता का यह श्लोक बुद्धिगम्य नहीं है। उनके लिये यह एक अलंकार-मात्र है अथवा यही सिद्ध करता है कि गीतागायक श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य हैं। सत्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य इन्द्रियों से युक्त हैं। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि उनकी प्रत्येक इन्द्रिय अन्य सब इन्द्रियों का कार्य कर सकती है। श्रीकृष्ण को अद्वय परतत्त्व इसी अर्थ में कहा जाता है। इन्द्रियों के बिना वे सब ऐश्वर्यों में पूर्ण नहीं कहलाते। सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा है कि वे अपरा प्रकृति में सम्पूर्ण जीव-समूह का गर्भाधान करते हैं; ऐसा प्रकृति पर उनके दृष्टिपात से होता है। अतएव इस संदर्भ में श्रीकृष्ण का भोग अर्पण करते हुए भक्त की प्रेममयी प्रार्थना को सुनना भोग को आरोगना ही है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वे परतत्त्व हैं, अतएव उनके सुनने, भोजन करने और चखने में कोई भेद नहीं है। जो भक्त श्रीकृष्ण को ठीक उसी प्रकार मानता है, जैसा श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने विषय में वर्णन किया है, अर्थात् जो श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मनोधर्मी नहीं करता है, वही यह समझ सकता है कि अद्वय परतत्त्व श्रीकृष्ण अर्पित भोजन को खाते हैं और इससे उन्हें आनन्द की अनुभूति भी होती है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

अनुवाद

इसलिए हे कुन्तीपुत्र ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।।२७।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

अनुवाद

इस प्रकार तू सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मफलों से छूट जायगा और फिर इस संन्यासयोग से युक्त चित्तवाला मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।।२८।।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

अनुवाद

मैं किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी का पक्षपात करता हूँ; जीवमात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे प्रिय मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका प्रेमी हूँ, उनमें हूँ।।२९।।

तात्पर्य

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि श्रीकृष्ण का जीवमात्र में समभाव है और कोई भी उनका विशेष प्रिय नहीं है, तो फिर वे अपनी भक्ति में निरन्तर तत्पर रहने वाले भक्तों का विशेष ध्यान क्यों रखते हैं? वास्तव में यह भेदभाव नहीं है; यह तो स्वाभाविक ही है। कोई मनुष्य महादानी हो सकता है, परन्तु वह भी अपनी सन्तान में विशेष रुचि रखता है। श्रीभगवान् कहते हैं कि जीवमात्र, चाहे वह किसी भी योनि में क्यों न हो, उनका पुत्र है और इसीलिए वे सम्पूर्ण प्राणियों की आवश्यकताओं की उदारता से पूर्ति करते हैं। वे उस मेघ जैसे हैं जो पाषाण, थल अथवा जल में भेद किये बिना सर्वत्र समान रूप से वर्षा करता है। परन्तु भक्त अवश्य उनके विशेष कृपापात्र हैं, अर्थात् श्रीभगवान् विशेषरूप से भक्तवत्सल हैं। उन भक्तों का यहाँ वर्णन है—ये नित्य-निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहते हैं; इसलिए इनकी सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण में दिव्य स्थिति है। 'कृष्णभावना' शब्द से ही प्रकट हो जाता है कि इस प्रकार भावित मति मनुष्य श्रीभगवान् में स्थित जीवन्मुक्त योगी हैं। श्रीकृष्ण ने यहाँ स्पष्ट कहा है: मयि ते—'वे मुझ में हैं।' अतएव यह स्वाभाविक है कि भगवान् श्रीकृष्ण की भी उनमें स्थिति है। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इससे श्रीभगवान् के

इन शब्दों का तात्पर्य भी स्पष्ट हो जाता है : अस्ति न प्रियः, ये भजन्तिः। 'जीव जिस अनुपात में मेरी शरण लेता है, उसी के अनुसार मैं उसका ध्यान रखता हूँ।' श्रीभगवान् एवं भक्त—दोनों चेतन हैं; इसी से यह चिन्मय रस-विनिमय होता है। इसे स्वर्णमणि न्याय से समझा जा सकता है। मुद्रिका में जड़ित मणि अधिक सुन्दर लगती है। एक साथ होने पर वास्तव में दोनों स्वर्ण और मणि की शोभा बढ़ जाती है। श्रीभगवान् और जीव में शाश्वत् प्रभा है। भगवत्सेवा के उन्मुख जीव स्वर्ण की सी शोभा पाता है; श्रीभगवान् मणि हैं ही। इस प्रकार यह जोड़ी बड़ी अभिराम है। शुद्धान्तःकरण जीव भक्त कहलाते हैं। श्रीभगवान् भी अपने भक्त के भक्त बन जाते हैं। भक्त और भगवान् में इस विनिमय-सम्बन्ध के बिना भागवत-दर्शन (सविशेषवाद) तो सिद्ध ही नहीं हो सकता। निर्विशेषवाद में परतत्त्व और जीव में परस्पर कोई रस-विनिमय नहीं है; सविशेषवाद में ऐसा अवश्य है।

यह अति प्रसिद्ध है कि श्रीभगवान् कल्पवृक्ष हैं। सामान्य रूप से माना जाता है कि कल्पवृक्ष की भाँति भगवान् सबकी इच्छापूर्ति करते हैं। परन्तु यहाँ इस तत्त्व का विशेष विवेचन है। यहाँ श्रीभगवान् को अपने भक्तों का पक्षपाती कहा गया है, जो केवल उनकी विशिष्ट भक्तवत्सलता को प्रकट करता है। भक्तों के साथ श्रीभगवान् के रस-विनिमय को कर्म-सिद्धान्त के आधीन नहीं समझना चाहिए। वह तो उस दिव्य राज्य की वस्तु है, जिसमें श्रीभगवान् एवं उनके भक्त क्रियाशील हैं। भगवद्भक्ति इस प्राकृत-जगत् की क्रिया नहीं है; वह उस वैकुण्ठ-जगत् की वस्तु है, जहाँ सच्चिदानन्द का अधिकार है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

अनुवाद

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरी अनन्यभक्ति के परायण हो जाय, तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह मेरी एकान्त निष्ठारूपी श्रेष्ठ निश्चय वाला है।।३०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में **सुदुराचारः** शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है; इसके अर्थ को भलीभाँति समझना चाहिए। बद्धजीव की क्रियाएँ दो प्रकार की हैं—एक सांसारिक और दूसरी स्वरूपभूता। देह-धारण अथवा समाज और राष्ट्र के विधान के पालन में भिन्न-भिन्न सांसारिक क्रियाएँ होती हैं। बद्धजीवन में भक्तों के लिये भी ये कर्तव्य हैं।

इन बद्ध क्रियाओं के अतिरिक्त, जो जीव अपने दिव्य स्वरूप को पूर्ण रूप से जानकर भक्तियोग अथवा कृष्णभावना के परायण हो गया है, वह दिव्य क्रियाओं का सम्पादन भी करता है। इन स्वरूपभूता क्रियाओं को ही भक्तियोग कहते हैं। बद्धावस्था में सामान्यतः भक्तियोगमयी सेवा और देहसम्बन्धी सेवा समानान्तर रूप में एक साथ सम्पादित होती रहती हैं। परन्तु कभी-कभी इन दोनों कार्यों में परस्पर विरोध भी उत्पन्न हो सकता है। भक्त यथासम्भव पूरा ध्यान रखता है कि वह कोई ऐसा कार्य न कर बैठे जिससे उसकी हितावह अवस्था में बाधा आए। वह जानता है कि कृष्णभावना की शनैः-शनैः उत्तरोत्तर अनुभूति पर ही उसकी सम्पूर्ण क्रियाओं की सफलता निर्भर करती है। ऐसा होने पर भी, कदाचित् देखा जाता है कि कृष्णभावनाभावित मनुष्य कोई ऐसा कर्म कर बैठता है, जो समाज अथवा राज की दृष्टि से अति विगर्हित है। परन्तु इस प्रकार के क्षणिक पतन से वह भक्ति के अयोग्य नहीं हो जाता है। 'श्रीमद्भागवत' में कहा है कि जो अनन्यभाव से भगवद्भक्ति के परायण है, वह यदि गिर भी जाय, तो अन्तर्यामी भगवान् श्रीहरि उसका परिष्कार करके पाप से मुक्त कर देते हैं। माया इतनी प्रबल है कि पूर्ण भगवद्भक्तिनिष्ठ योगी भी कदाचित् उससे ग्रस्त हो जाता है। परन्तु कृष्णभावना अधिक शक्तिसम्पन्न है, जिससे इस प्रकार के प्रासगिक स्खलन-पतन का तत्काल शोधन हो जाता है। इस प्रकार, भक्तिमार्ग की सफलता नित्यसिद्ध है। यदि भक्त अकस्मात् आदर्श भागवत पथ से कभी गिर जाय, तो भी कोई उसका उपहास न करे। जैसा अगले श्लोक में स्पष्ट है, उसके पूर्ण कृष्णभावनाभावित होते ही ऐसे आकस्मिक पतन समाप्त हो जायेंगे।

अतएव जो पुरुष कृष्णभावना में स्थित है और निश्चयपूर्वक **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का जप करता है, वह यदि प्रसंगवश अथवा अकस्मात् दुर्घटना के कारण अपनी स्थिति से गिर जाय, तो भी उसे महात्मा ही समझना चाहिए। इस संदर्भ में **साधुरेव** (वह महात्मा) शब्द अति निश्चयात्मक है। इससे अभक्तों को चेतावनी दी गयी है कि वे आकस्मिक पतन के लिए भक्त का उपहास न करें; उसे साधु ही मानें। **मन्तव्यः** शब्द तो और भी अधिक बलपूर्ण है। इस श्लोक के विधान को न मानकर आकस्मिक पतन के लिए भक्त का उपहास करना भगवान् के आदेश की अवहेलना होगी। भक्त में केवल इतनी योग्यता होनी चाहिए कि भक्तियोग में उसकी अनन्य-अचल निष्ठा हो।

चन्द्रमा पर दिखायी देने वाले कलंक से चन्द्रिका प्रतिहत नहीं होती। इसी प्रकार साधुपथ से भक्त का प्रसंगवश गिर जाना उसे पापात्मा नहीं बना देता। परन्तु साथ

ही, इस भ्रम में न रहे कि भगवत्-परायण भक्त सब प्रकार के निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्त हो सकता है। इस श्लोक का तात्पर्य केवल विषय संसर्ग की प्रबलता के कारण घटित हुई दुर्घटना से है। भगवद्भक्ति करना वस्तुत· माया पर आक्रमण करना है। जब तक भक्त माया से लड़ने में पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हो जाता, तब तक इस प्रकार की दुर्घटनाओं के घटित होने की सम्भावना रहेगी। परन्तु जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, पूर्ण सशक्त हो जाने पर उसका फिर कभी पतन नहीं होता। इस श्लोक की आड़ में पापाचरण करते हुए कोई यह न समझे कि वह तब भी भक्त है। यदि भगवद्भक्ति के साधन से उसका चरित्र शुद्ध नहीं होता तो समझना चाहिए कि वह श्रेष्ठ भक्त नहीं है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

अनुवाद

वह शीघ्र धर्मात्मा होकर सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! निश्चयपूर्वक घोषणा कर कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।।३१।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

अनुवाद

हे पार्थ! मेरी शरण होकर तो पापयोनि वाले, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं।।३२।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

अनुवाद

फिर क्या कहना है कि मेरी प्रेमसेवा के परायण पुण्यात्मा ब्रह्मण और राजर्षि परमगति को पाते हैं। इसलिए इस क्षणभंगुर और दुःखमय संसार को प्राप्त होकर मेरा ही भजन कर।।३३।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

अनुवाद

मन से नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से मेरा चिन्तन कर, मेरा भक्त बन, मेरा ही पूजन कर और अतिशय प्रेम सहित मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार पूर्ण रूप से मुझमें तन्मय हुआ तू मुझ को ही प्राप्त होगा।।३४।।

तात्पर्य

इस श्लोक में निर्णय है कि इस दूषित प्राकृत-जगत् के बन्धनों से मुक्ति का एकमात्र साधन कृष्णभावना है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि सम्पूर्ण भक्तियोग के लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं; परन्तु दुर्भाग्यवश, असाधु व्याख्याकार इस अति स्पष्ट तथ्य को तोड़-मरोड़ कर पाठक का चित्त बिल्कुल असाध्य कुपथ में मोड़ देते हैं। ये व्याख्याकार नहीं जानते हैं कि श्रीकृष्ण के चित्त और स्वयं श्रीकृष्ण में भेद नहीं है। श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य नहीं हैं; वे परतत्त्व पुरुषोत्तम हैं। उनके देह, चित्त और स्वयं वे एकतत्त्व हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत, आदिलीला, अध्याय पाँच, श्लोक ४१-४८ पर अपने अनुभाष्य में श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ने 'कूर्म पुराण' में यह प्रमाण उद्धृत किया है: **देह देहि विभेदोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्**, अर्थात् परमेश्वर श्रीकृष्ण में और उनके देह में कोई भेद नहीं है। इस कृष्णतत्त्व को न जानने वाले व्याख्याता शब्दों की चातुरी से श्रीकृष्ण को छिपाते हुए कहते हैं कि श्रीकृष्ण का यथार्थ स्वरूप उनके देह और मन से अलग है। ऐसा कहना कृष्णतत्त्व के नितान्त अज्ञान का प्रतीक है, पर कुछ मनुष्य तो इस प्रकार जनता को पथभ्रष्ट करके ही बड़ा भारी धन अर्जित कर लेते हैं।

कुछ आसुरीभाव वाले मनुष्य हैं। वे भी श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं, परन्तु उनका वह चिन्तन कंस की भाँति द्वेषपूर्वक होता है। कंस वैरी-रूप में श्रीकृष्ण के चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहता था। उसे सदा यही चिन्ता बनी रहती थी कि कहीं श्रीकृष्ण इसी क्षण उसे मारने न आ जायें। इस प्रकार के प्रतिकूल चिन्तन से लाभ नहीं हो सकता। अतएव श्रीकृष्ण का चिन्तन प्रेमभाव से करे; इसी का नाम 'भक्ति' है। श्रीकृष्णतत्त्व का नित्य अनुकूल अनुशीलन (सेवन) करते रहना चाहिए। प्रामाणिक गुरु के आश्रय में शिक्षा ग्रहण करना ही श्रीकृष्णतत्त्व का अनुकूल अनुशीलन (सेवन) है। हम बहुधा विवेचन कर चुके हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, उनका विग्रह प्राकृत नहीं है, सच्चिदानन्दघन है। इस प्रकार की वार्ता भक्त बनने में सहायक है। दूसरी ओर, अवांछित व्यक्तियों से श्रीकृष्ण के तत्त्व को समझना निरर्थक है।

अस्तु, चित्त को श्रीकृष्ण के नीलोत्पलश्यामल सर्वगुणनिलय माधुर्य-सार-सर्वस्व, आद्य, नित्य श्रीविग्रह में ही निवेशित रखे और श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं—इस

हार्दिक विश्वास के साथ उनकी पूजा में तत्पर रहे। इस भक्तियोग का एक अंग श्रीकृष्ण को प्रणाम करना है। भगवत्-विग्रह के सामने दण्डवत् प्रणाम करते हुए चित्त, देह और क्रिया-कलाप, आदि सब कुछ श्रीकृष्ण के परायण कर देना चाहिए। इससे श्रीकृष्ण में अविचल तन्मयता हो जायगी और अन्त में कृष्णलोक की प्राप्ति भी सुलभ होगी। असाधु व्याख्याकारों की वाग्चातुरी से पथभ्रष्ट न होकर श्रीकृष्ण के श्रवण, कीर्तन, आदि नवधा भक्ति के साधनों में निष्ठ रहे। यह शुद्ध कृष्णभक्ति मानव समाज की परम उपलब्धि है।

सातवें और आठवें अध्याय में ज्ञानयोग, ध्यानयोग और सकाम कर्मों से स्वतन्त्र, शुद्धभक्तियोग का प्रतिपादन है। जो पूर्णरूप से शुद्ध नहीं हुए हैं, वे ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति, एकदेशीय परमात्मा आदि श्रीभगवान् के अन्यान्य रूपों की ओर आकृष्ट होते हैं। शुद्धभक्त तो सीधे भगवत्-सेवा का पथ अंगीकार कर लेता है।

श्रीकृष्ण विषयक एक अति मधुर कविता में उल्लेख है कि जो देवोपासना करता है, वह मनुष्य परम अज्ञानी है, उसे भक्ति के परम फल—श्रीकृष्ण की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यद्यपि भक्तियोग के प्रारम्भिक साधक (कनिष्ठ भक्त) का कदाचित् पतन हो सकता है, फिर भी वह सब दार्शनिकों और योगियों से उत्तम मान्य है। ो नित्य निरन्तर कृष्णभावनाभावित रहता हो, वह निस्सन्देह परम सन्त है। उसके द्वारा प्रसंगवश बनने वाली भक्ति की प्रतिकूल क्रियाएँ शनैः-शनैः समाप्त हो जायेंगी और वह शीघ्र ही परम संसिद्धि को प्राप्त कर लेगा। शुद्धभक्त के पतन का तो वस्तुतः प्रश्न ही नहीं बनता, क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं अपने शुद्धभक्त का ध्यान रखते हैं। अतएव बुद्धिमान् पुरुष को इस कृष्णभावना-वीथि को अवश्य अंगीकार करना चाहिए। तब वह प्राकृत जगत् में सुख से रह सकता है। उसे यथासमय श्रीकृष्ण रूपी परम फल की प्राप्ति हो जायगी।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये नवमोऽध्यायः।।

अथ दशमोऽध्यायः

विभूतियोग

(श्रीभगवान् का ऐश्वर्य)

श्रीभगवानुवाच ।
भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे सखे ! हे महाबाहु अर्जुन ! मेरे परम वचन को फिर सुन, जो मैं तुझे अपना प्रिय समझकर तेरे कल्याण के लिये कह रहा हूँ और जिसे सुनकर तू अतिशय आनन्द का अनुभव करेगा ।।१।।

तात्पर्य

पराशर मुनि के अनुसार जो समग्र बल, समग्र यश, समग्र ऐश्वर्य, समग्र ज्ञान, समग्र श्री और समग्र वैराग्य—इन छः ऐश्वर्यों से युक्त हो, उसे भगवान् कहते हैं। पृथ्वी पर अपने अवतरण के समय श्रीकृष्ण ने इन षडैश्वर्यों का पूर्ण प्रकाश किया

था। अतएव पराशर आदि सब महर्षियों ने श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् माना है। अब श्रीकृष्ण स्वयं श्रीमुख से अर्जुन को अपने ऐश्वर्य और कार्य-कलाप के विशेष गोपनीय ज्ञान का उपदेश कर रहे हैं। सातवें, आठवें और नौवें अध्यायों में वे अपनी शक्तियों और उनके कार्यों का निरूपण कर चुके हैं; अब इस अध्याय में अर्जुन के लिए अपने विशिष्ट ऐश्वर्यों का वर्णन करते हैं। भक्ति को दृढ़ निष्ठा सहित स्थापित करने के लिए पिछले अध्याय में अपनी विविध शक्ति का विवेचन करने के बाद अब इस अध्याय में वे फिर अर्जुन को अपनी नाना विभूतियों और ऐश्वर्यों का वर्णन सुनाते हैं।

श्रीभगवान् की कथा का जितना अधिक श्रवण किया जाता है, उतनी ही भक्ति में निष्ठा बढ़ती है। अतएव भक्तो के सग में भगवत्-कथा को नित्य सुनना चाहिए इससे भक्तियोग में अवश्य उन्नति होगी। कृष्णभावना की प्राप्ति के यथार्थ लोलुप ही भक्तगोष्ठी में भागवती-वार्ता का आस्वादन कर सकते हैं; दूसरों का इसमें प्रवेश नहीं हो सकता। श्रीभगवान् अर्जुन से स्पष्ट कहते हैं कि वह उनका प्रेमभाजन है, इसीलिए उसके कल्याण की भावना से वे गीतामृत का परिवेषण कर रहे हैं।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

अनुवाद

मेरे आविर्भाव को न तो देवता जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का भी आदिकारण हूँ।।२।।

तात्पर्य

'ब्रह्मसंहिता' से प्रमाण है कि भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं· उनसे बड़ा कोई नहीं है, वे सब कारणों के परम कारण हैं। यहाँ श्रीभगवान् स्वयं कहते है कि वे सब देव-महर्षियों के आदिकारण हैं। अतएव ये देवता और महर्षि तक श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान नही सकते। वे न तो उनके नाम के तत्त्व को समझ सकते हैं और न ही उनके स्वरूप को जानने में समर्थ हैं। फिर इस तुच्छ लोक के नाममात्र के विद्वानों के सम्बन्ध में कहना ही क्या? नररूप में पृथ्वी पर अवतरित होकर नरवत् परम अद्भुत कार्य करने में श्रीभगवान् का क्या प्रयोजन है, यह कोई नहीं समझ सकता। इससे यह जान लेना चाहिये कि श्रीकृष्ण के तत्त्वबोध के लिये विद्वता की योग्यता नहीं चाहिए। मनोधर्मी से श्रीकृष्ण के तत्त्व को समझने के प्रयास में तो देवता और महर्षि भी विफल ही रहते हैं। श्रीमद्भागवत में स्पष्ट उक्ति है कि बड़े से बड़े देवता भी श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जान सकते। अपनी दोषमयी इन्द्रियों की सीमा तक मनोधर्म करके वे

त्रिगुणातीत निर्विशेष रूपी विपरीत निर्णय पर पहुँच सकते हैं अथवा कोई मनमानी कल्पना कर सकते हैं; परन्तु ऐसी मूर्खतापूर्ण मनोधर्मी से श्रीकृष्ण को कभी नहीं जाना जा सकता।

इस कथन के रूप में मानो श्रीभगवान् परतत्त्व के जिज्ञासुओं का आह्वान करते हुए कह रहे हैं, 'यहाँ विद्यमान मैं भगवान् ही परमसत्य हूँ।' सत्य जानना नितान्त आवश्यक है। साक्षात् विराजमान अचिन्त्य शक्तिशाली श्रीभगवान् होते हुए भी चाहे उनका तत्त्व साधारण मनुष्य न समझ पायें; पर फिर भी उनका अस्तित्व तो है ही। श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत रूपी श्रीभगवान् के वचनामृत मे अवगाहन करने मात्र से श्रीकृष्ण के सच्चिदानन्द तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। शुद्धसत्त्व में स्थित हुए बिना श्रीभगवान् का तत्त्वबोध नहीं हो सकता, जबकि निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति तो मायामोहित मनुष्यों को भी हो जाया करती है।

अधिकांश मनुष्यों के लिए श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानना सम्भव नहीं है। अतएव अपनी अहैतुकी करुणा से प्रेरित हुए भगवान् इन मनोधर्मियो को निरवधि कृपा-कादम्बिनी से आप्यायित करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। परन्तु श्रीभगवान् की परम विलक्षण लीलाओं को देखने पर भी ये मनोधर्मी माया-संसर्ग से उत्पन्न दोषवश निर्विशेष ब्रह्म को ही परात्पर मानते हैं। एकमात्र पूर्ण शरणागत भगवद्भक्त भगवत्-कृपा से जान सकते हैं कि श्रीकृष्ण परात्पर हैं। भक्त ईश्वर की निर्विशेष ब्रह्म धारणा को बिल्कुल ठुकरा देते हैं; उनकी श्रद्धा और भक्तिभावना उन्हें तुरन्त श्रीकृष्ण की शरण में पहुँचा देती है; श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपा से वे उन्हे जान जाते हैं। दूसरा कोई उन्हें नहीं जान सकता। अतएव महर्षिजन भी आत्मा और परतत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध मे एकमत हैं। वस्तुत. श्रीकृष्ण ही सबके आराध्य हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

अनुवाद

जो मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकों का परमेश्वर तत्त्व से जानता है, वह मनुष्यो में ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।।३।।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

अनुवाद

बुद्धि, ज्ञान, संशय और मोह का अभाव, क्षमाभाव, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, मन की सौम्यता, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश आदि जीवो के सब नाना प्रकार के भाव मुझ से ही होते हैं।।४-५।।

तात्पर्य

यहाँ वर्णित जीव के सब अच्छे-बुरे गुणो की रचना श्रीकृष्ण ने की है।

बुद्धिः का अर्थ सूक्ष्मार्थ विवेचन की सामर्थ्य है और **ज्ञान** का अर्थ है चित् और अचित् वस्तु का तत्त्वबोध। विश्वविद्यालय की शिक्षा से प्राप्त होने वाला सामान्य ज्ञान केवल जड़ अनात्मा से सम्बन्ध रखता है। अतएव उसे यहाँ ज्ञान नहीं कहा गया है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा में भेद का बोध ही यथार्थ ज्ञान है। आधुनिक शिक्षा में आत्मा का ज्ञान नहीं है। केवल भौतिक तत्त्वों और शारीरिक आवश्यकताओ की परिचर्या में संलग्न होने के कारण विश्वविद्यालय की शिक्षा एकांगी और अपूर्ण है।

असंमोहः अर्थात् संशय एवं भ्रम का अभाव। इसकी प्राप्ति संकोच त्याग कर भागवतधर्म को समझने से होती है। इस पद्धति से मनुष्य शनै -शनै निश्चित रूप से मायामुक्त हो जाता है। किसी भी विषय में अन्धविश्वास करना ठीक नहीं। गम्भीर विचार करने के बाद ही किसी मान्यता को स्वीकार करना उचित है। **क्षमा** का अभ्यास करते हुए दूसरों के साधारण अपराधों की उपेक्षा कर देनी चाहिए। **सत्यम्** का अर्थ तथ्य को विकृत किये बिना दूसरों के हित के लिये यथार्थ भाषण करना है। लोक-परिपाटी के अनुसार सत्य का भाषण तभी करना चाहिए, जब वह दूसरों को प्रिय लगे। परन्तु यह सत्य का यथार्थ स्वरूप नहीं है। सीधे-सरल भाव से सत्यभाषण करना चाहिए, जिससे सुनने वाले यथार्थ रूप में तथ्य को जान सकें। किसी को चोर से सावधान करना सत्यभाषण के ही अन्तर्गत है। अतएव यह आवश्यक है कि अप्रिय होने पर भी सत्य बोलने में संकोच न करे। परहित के लिए यथार्थ वस्तुस्थिति को प्रस्तुत करना ही वास्तव में सत्यभाषण है।

दमः का अर्थ है कि इन्द्रियों से अनावश्यक विषयभोग नहीं करना चाहिए। इन्द्रियों की उचित आवश्यकता की पूर्ति का निषेध नहीं है; पर यह अवश्य है कि

आवश्यकता से अधिक इन्द्रियतृप्ति करने से परमार्थ में बाधा पड़ती है। अतएव अनावश्यक विषयभोग से इन्द्रियों का संयम करना चाहिए। इसी प्रकार, चित्त का व्यर्थ चिन्तन से संयम करना है। इसे **शमः** कहते हैं। धनोपार्जन की चिन्ता में भी समय को नष्ट न करे; इससे शक्ति का दुरुपयोग होता है। जीवन का सदुपयोग इसी में है कि चित्त से मनुष्य जीवन के मुख्य प्रयोजन की जिज्ञासा की जाय। शास्त्रज्ञों, साधुओं, गुरुजनों और मनीषियों के सत्संग में चित्त की विचार-शक्ति का सन्मार्ग की ओर विकास करना चाहिए। **सुखम्** (सुख) का अनुभव उसी पदार्थ या परिस्थिति में हो, जो कृष्णभावनारूप दिव्य ज्ञान के अनुशीलन (सेवन) में सहायक हो। दूसरी ओर, जो प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थिति कृष्णभावना के प्रतिकूल हो, उसे दुःखदायी समझना चाहिए। जो कुछ भी कृष्णभावना को विकसित करने में सहायक हो, उसे ग्रहण करे और जो कृष्णभावना के प्रतिकूल हो, उसे त्याग दे।

भवः, अर्थात् जन्म का सम्बन्ध देह से है। आत्मा का न तो जन्म होता है और न मृत्यु होती है, यह गीता के आदि में कहा जा चुका है। अतएव जन्म-मृत्यु का सम्बन्ध प्राकृत-जगत् के बन्धन से ही है। भय का कारण भविष्य के लिए चिन्ता करना है। कृष्णभावनाभावित पुरुष सर्वथा निर्भय हो जाता है, क्योंकि अपने सत्कर्मों के प्रताप से उसके लिए वैकुण्ठ धाम की प्राप्ति निश्चित है। उसका भविष्य अतिशय उज्ज्वल है। दूसरे अपने भावी जीवन के विषय में कुछ नहीं जानते; इसलिए नित्य-निरन्तर उद्वेग से पीड़ित रहते हैं। श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानकर कृष्णभावनाभावित हो जाना इस प्रकार के उद्वेग से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है। ऐसा करने वाला पूर्णतया निर्भय हो जायगा। श्रीमद्भागवत के अनुसार, माया से मोहित होने के कारण ही हमें भय की प्राप्ति होती है। जो माया के बन्धन से मुक्त हो चुके हैं, जिन्हें यह विश्वास है कि वे प्राकृत देह से भिन्न भगवान् के दिव्य अंश हैं और इसलिए जो चिन्मय भगवत्सेवा के परायण हैं, उन भक्तों के लिये भय का कोई कारण नही रहता। उनका भविष्य भी परम उज्ज्वल है। वास्तव में एकमात्र कृष्णभावनाभावित पुरुष ही अभय-पद **अभयम्** को पाते हैं।

अपने किसी कर्म से दूसरों को पीड़ित अथवा व्याकुल न करने का नाम **अहिंसा** है। राजनीतिज्ञों, समाजवादियों, परोपकारियों की लौकिक क्रियाएँ इसीलिए कल्याणकारी सिद्ध नही होतीं, क्योंकि वे आत्म-दृष्टि से विहीन हैं। वे तो वास्तव में यह जानते ही नहीं कि मानवसमाज के लिये वास्तव में क्या कल्याणकारी है और क्या नहीं। **अहिंसा** सिद्धान्त का अभिप्राय जनता को इस रीति से सिखाना है, जिससे मानव शरीर का सब प्रकार सदुपयोग हो सके। मानव देह का एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति

करना है। अतएव जिन कार्य-कलापों से इस लक्ष्य की दिशा में उन्नति न हो, वे सब मानव-देह की हिंसा करते हैं। अहिंसा तो वह साधना है जिससे जनसाधारण के लिये भावी आध्यात्मिक सुख हो।

समता का अर्थ राग-द्वेष से मुक्ति है। न गाढ़ राग अच्छा है और न अत्यधिक द्वेष होना ही उत्तम है। इस प्राकृत-जगत् में राग और द्वेष, दोनों ही से मुक्त रहना सर्वोत्तम नीति है। कृष्णभावना के अनुकूल प्राणी-पदार्थों को अंगीकार कर लेना और इसके प्रतिकूल सम्पूर्ण वस्तुओं को त्याग देना—इसी का नाम **समता** है। कृष्णभावनाभावित पुरुष किसी भी वस्तु का ग्रहण-त्याग स्वेच्छा से नहीं करता, वह वस्तु कृष्णभावना के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल है—इसके आधार पर ही उसे अपनाता या त्यागता है।

तुष्टिः अर्थात् सन्तोष का तात्पर्य है कि अनर्थकारी क्रियाओं के द्वारा अधिकाधिक विषयभोग जोड़ने का लोभ न करे। भगवत्कृपा से जो कुछ मिले, उसी मे सन्तोष का अनुभव करना चाहिए। **तपः** के सम्बन्ध में वेदों में अनेक विधि-विधान हैं, जैसे ब्राह्ममुहूर्त में शयन-त्याग, स्नान करना, इत्यादि। ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा-त्याग करने में कभी-कभी अतीव कष्ट सा होता है। इस प्रकार के कष्टों को स्वेच्छापूर्वक सहन करना तप है। इसी प्रकार, कुछ दिवसों में उपवास रखने का विधान है। इच्छा न होने पर भी कृष्णभावना में प्रगति के दृढ उद्देश्य को लेकर उपवास जैसे शास्त्र-विहित शारीरिक कष्टों को प्रसन्नता के साथ सहन करना चाहिये। परतु ऐसा उपवास करना ठीक नहीं, जो निष्प्रयोजन हो अथवा जो वेदविरुद्ध हो, जैसे किसी राजनीतिक उद्देश्य के लिए उपवास करना। भगवद्गीता में इस प्रकार के व्रत को तामसी कहा गया है। यह सिद्धान्त है कि तामसी अथवा राजसी कर्म से पारमार्थिक उन्नति नहीं हो सकती। एकमात्र सात्त्विक कर्मों से ही उन्नति होती है। वैदिक विधान के अनुसार उपवास करना ज्ञान के विकास मे विशेष सहायक है।

दानः के सम्बन्ध मे शास्त्र की आज्ञा है कि आय का आधा भाग सत्कार्य में लगाना चाहिए। कृष्णभावनाभावित कर्म ही यथार्थ सत्कर्म है—वास्तव में सर्वोत्तम है। श्रीकृष्ण सत्स्वरूप हैं, इसलिए उनका निमित्त भी सत्स्वरूप है। अतएव दान कृष्णभावना-परायण मनुष्य को करना चाहिए। वैदिक शास्त्रों के अनुसार, ब्राह्मण दान के पात्र हैं। यह परिपाटी आज भी प्रचलित है, यद्यपि इसका स्वरूप वैदिक-विधान से प्रायः भ्रष्ट हो गया है। फिर भी, विधान है कि दान ब्राह्मणों को ही करे, क्योंकि वे अध्यात्म ज्ञान के गम्भीर अनुशीलन में तत्पर रहते हैं। ब्राह्मण का

कर्तव्य है कि अपना सारा जीवन ब्रह्मजिज्ञासा करने में उत्सर्ग कर दे। ब्राह्मन वह है जो ब्रह्म का ज्ञाता हो; वही ब्राह्मण कहलाने के योग्य है। ब्राह्मणों को दान किया जाता है, क्योंकि नित्य भगवत्सेवा में लगे रहने से वे स्वयं धन का अर्जन नहीं कर सकते। वैदिक विधान में संन्यासी भी दान का सत्पात्र है। साधु द्वार-द्वार पर मधुकरी करते हैं। वे ऐसा धन-प्राप्ति के लिये नहीं करते; वरन् उनका उद्देश्य प्रचार करना है। यह पद्धति है कि वे द्वार-द्वार पर जाकर गृहस्थों को प्रगाढ़ अज्ञान-निद्रा से जगाते हैं। कुटुम्ब के प्रपंच में फंसे गृहस्थों को अपने जीवन के इस लक्ष्य का विस्मरण हो गया है कि हृदय में सोयी कृष्णभावना को उद्बुद्ध करना है। अतः संन्यासियों का कर्तव्य बनता है कि भिक्षा के लिए उनके घरों में जाकर उनमें कृष्णभावना का संचार करें। वेद आह्वान कर रहे हैं कि जागृत होकर मानव योनि के प्रयोजन को सिद्धकर लेना चाहिये। सन्यासी इसी ज्ञान और साधन-पद्धति का प्रचार करते हैं। अतएव इन संन्यासी, ब्राह्मण, आदि सत्पात्रों को ही दान करना चाहिए, स्वेच्छापूर्वक जिस-किसी को नहीं।

यशः का स्वरूप श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुसार होना चाहिये। उनका कहना है कि जो मनुष्य शुद्धभक्त के रूप मे प्रख्यात हो जाता है, उसे शाश्वत् यश की प्राप्ति होती है। यही सच्चा यश है और कृष्णभावनाभावित महापुरुष ही यथार्थ मे यशस्वी है। जिसे यह यश नहीं है, वह कलंकित (**अयशः**) है।

उपरोक्त सारे गुण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मानव और देव समाजों मे प्रकट रहते हैं। अन्य लोकों में रहने वाले नाना प्रकार के मनुष्यों में भी इनकी अभिव्यक्ति है। कृष्णभावना मे उन्नति के अभिलाषी के लिए श्रीकृष्ण इन गुणों का सृजन करते हैं, जिससे साधक अपने अन्तर में उन्हे स्वय विकसित कर लेता है। भाव यह है कि भगवान् के विधान के अनुसार भगवद्भक्ति-परायण मनुष्य में सम्पूर्ण सद्गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

हम जो कुछ अच्छा-बुरा देखते है, श्रीकृष्ण उस सब के मूल हैं। इस ससार में अभिव्यक्त होने वाला ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो श्रीकृष्ण में स्थित न हो। इसका नाम ज्ञान है। वस्तुओं में परस्पर भेद होते हुए भी हमें यह जान लेना चाहिये कि सब कुछ श्रीकृष्ण से ही आता है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

अनुवाद

सात महर्षि, चार उनसे भी पूर्व में होने वाले सनकादि और चौदह मनु—ये सब मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं और मेरे ही चिन्तन के परायण हैं, जिनकी संसार में यह सम्पूर्ण प्रजा है।।६।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ससार की प्रजा का आनुवशिक वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्मा उन परमेश्वर की हिरण्यगर्भ नामक शक्ति से जन्मे प्रथम जीव हैं। यथासमय ब्रह्मा से सात महर्षि, चार उनसे भी पूर्व के सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नामक महर्षि, और मनु प्रकट होते हैं। यही पच्चीस महर्षि ब्रह्माण्डवर्ती सम्पूर्ण प्राणियों के प्रजापति हैं। ब्रह्माण्ड असख्य है और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में असख्य लोक हैं। प्रत्येक लोक विविध योनियों के प्राणियो से परिपूर्ण है। इन सब का जन्म पच्चीस प्रजापतियो से होता है। ब्रह्मा को एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या करने के बाद श्रीकृष्ण की कृपा से सृष्टि करने की विधि का ज्ञान हुआ था। फिर उनसे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार, रुद्र और सात महर्षि आदि उत्पन्न हुये। इस प्रकार श्रीभगवान् की शक्ति ही ब्राह्मणों और क्षत्रियों आदि की उत्पत्ति का कारण है। इसीलिए ग्यारहवें अध्याय (११.३९) में ब्रह्मा को पितामह और श्रीकृष्ण को **प्रपितामह** कहा है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

अनुवाद

जो मेरे इस ऐश्वर्य और योगशक्ति को तत्त्व से जानता है, वह निस्सन्देह मेरी अनन्य भक्ति के परायण हो जाता है।।७।।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

अनुवाद

मैं प्राकृत-जगत् और वैकुण्ठ, दोनों का कारण हूँ; मुझ से ही सब कुछ उत्पन्न होता है और चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्व मे समझ कर बुद्धिमान् भक्तजन श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रेमपूरित हृदय से निरन्तर मेरा भजन करते हैं।।८।।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

अनुवाद

मेरे शुद्धभक्त निरन्तर मेरे चिन्तन में तन्मय रहते हैं, उनके प्राण मेरी सेवा में ही अर्पित रहते हैं। परस्पर एक दूसरे को मेरी महिमा का बोध कराने और मेरी वार्ता करने में उन्हें अतुलनीय सन्तोष और आनन्द की प्राप्ति होती है—वे उसी में रमण किया करते हैं।।९।।

तात्पर्य

यहाँ जिन शुद्धभक्तों के लक्षणों का उल्लेख है, वे नित्य-निरन्तर पूर्णरूप से अनन्य प्रेममयी भगवद्भक्ति के परायण रहते हैं। उनका चित्त श्रीकृष्ण के चरणारविन्द से क्षण भर के लिये भी विचलित नहीं किया जा सकता। वे आपस में केवल भगवच्चर्चा करते है। इस श्लोक में शुद्धभक्तों के लक्षणों का विशेष रूप से वर्णन है। ये भक्त चौबिस घण्टे निरन्तर श्रीभगवान् के मधुर लीलारस-गुणगान में मग्न रहते हैं। उन लीलारस-लोलुपों के चित्त-प्राण निरन्तर रसराज श्रीकृष्ण में ही निमज्जित रहते है; अन्य भक्तो के साथ भगवच्चर्चा करने में उन्हें अनुपमेय रस का आस्वाद मिलता है।

भक्तियोग की प्रारम्भिक दशा मे भक्त उस सेवा के चिन्मय आनन्द का रस लेते हैं और परिपक्व दशा में यथार्थ भगवत्प्रेम को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध सत्त्वमयी दिव्य अवस्था में उन्हें उस परम रस का आस्वादन सुलभ हो जाता है, जिसका प्रकाश स्वयं श्रीभगवान् अपने धाम में करते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भक्तियोग को जीव के हृदय-प्रागण में बीज का आरोपण करने की उपमा दी है। ब्रह्माण्ड के नाना लोकों में असंख्य जीव भटक रहे हैं। इनमें से जो दुर्लभ भाग्यवान् हैं, उन जीवों को शुद्धभक्त के आश्रय में भक्तियोग की शिक्षा पाने का सुयोग मिलता है। यह भक्तियोग एक बीज जैसा है। यदि जीव-हृदय में इसका आरोपण कर दिया जाय और वह **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र के निरन्तर श्रवण-कीर्तन रूपी जल से इसको सीचेंता रहे, तो वृक्ष के बीज के समान यह भक्ति-बीज भी अंकुरित हो जायगा। इससे निकली दिव्य भक्ति-लता शनैः शनैः बढ़ती हुई ब्रह्माण्डीय आवरण का भेदन कर परव्योम की ब्रह्मज्योति में प्रविष्ट हो जाती है। परव्योम में भी वह भक्ति-लता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है और अन्त में श्रीकृष्ण के परमधाम—गोलोक वृन्दावन तक पहुँच जाती है।

वहाँ वह श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का आश्रय लेकर विश्राम करती है। यदि श्रवण-कीर्तन रूपी सिंचन अविराम चलता रहे, तो भक्ति-लता में फल भी लगता है। 'चैतन्यचरितामृत' में इस भक्ति-लता का विशद वर्णन है। उसके अनुसार भक्ति-लता के द्वारा श्रीभगवान् के चरणों की शरण ले लेने पर भक्त कृष्णप्रेम में मत्त हो उठता है। इस दशा मे अपने प्रभु का क्षणभर का भी विरह उसके परम असह्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे जल के बिना मछली प्राणधारण नहीं कर सकती। इस भावाविष्ट अवस्था में श्रीभगवान् के सान्निध्य के प्रताप से भक्त को सम्पूर्ण दिव्य गुणों की उपलब्धि हो जाती है।

श्रीमद्भागवत श्रीभगवान् और उनके भक्तों में होने वाले भक्तिरस की कथाओं से परिपूर्ण है; इसीलिए श्रीमद्भागवत भक्तों को प्राणोपम प्रिय है। श्रीमद्भागवत का यह अप्रतिम वैशिष्ट्य है कि इसके वर्णन में प्राकृत क्रियाओं, इन्द्रियतृप्ति अथवा मोक्ष का लेश भी नहीं है; यही वह कथा है जिसमें श्रीभगवान् और उनके भक्तों के स्वरूप का सर्वांगीण वर्णन हुआ है। अतएव आश्चर्य नहीं कि कृष्णभावनाभावित भगवत्प्राप्त पुरुषों को भागवती कथा के श्रवण में उसी प्रकार नित्य नवायवान आनन्दरस की अनुभूति होती है, जैसी युवक-युवती को परस्पर संग करने से होती है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

अनुवाद

उन निरन्तर भक्ति के परायण, प्रेमसहित मुझे भजने वाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझ को प्राप्त हो जाते हैं।।१०।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

अनुवाद

उनपर अनुग्रह करने के लिये, उनके हृदय में बैठा मैं स्वयं अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को ज्ञान के प्रकाशमय दीपक द्वारा नष्ट कर देता हूँ।।११।।

तात्पर्य

जब श्रीचैतन्य महाप्रभु वाराणसी में **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र के संकीर्तन का प्रवर्तन कर रहे थे, तो

हजारों मनुष्य उनके अनुगामी हो गए। तत्कालीन काशी के अत्यन्त प्रभावशाली विद्वान् प्रकाशानन्द श्रीचैतन्य को भावुक कहकर उनका उपहास किया करते। कभी-कभी दार्शनिक भक्तों की निन्दा करते हैं: उनकी धारणा में अधिकांश भक्त अज्ञानान्ध और दर्शन शास्त्र से अपरिचित भावुक मात्र हैं। परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। भक्तों में अनेक विद्वच्चूड़ामणि हुए हैं और उन्होंने भक्ति-दर्शन का विशद प्रतिपादन भी किया है। यदि भक्त इन ग्रन्थों अथवा गुरु से लाभ न उठाये, तो भी उसकी निष्किंचन भक्ति से द्रवित होकर अन्तर्यामी श्रीकृष्ण स्वयं उसकी सहायता करेंगे। कृष्णभावना-परायण निष्किचन भक्त अज्ञानी नहीं रह सकता। इसके लिए केवल इतना ही योग्यता चाहिए कि पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित होकर भक्तियोग के परायण रहे।

आधुनिक दार्शनिकों के मत में विवेक-बुद्धि के बिना शुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता। उनके लिये श्रीभगवान् ने इस श्लोक में यह उत्तर दिया—जो शुद्ध भक्तियोग में लगे हुए हैं, वे भक्त यदि पर्याप्त शिक्षा और वैदिक ज्ञान से विहीन भी हों, तो इस श्लोक के अनुसार भगवान् स्वय उनकी सहायता करते हैं।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उनके तत्त्व को मनोधर्म से जानने की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि परम सत्य इतना महान् है कि उसे केवल मानसिक प्रयास से जाना अथवा पाया नहीं जा सकता। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम और समर्पण भाव के बिना करोड़ों वर्ष की मनोधर्मी के बाद भी उनका तत्त्वज्ञान नहीं होगा। परम सत्य श्रीकृष्ण केवल भक्तियोग से प्रसन्न होते हैं और अपनी अचिन्त्य शक्ति से शुद्धभक्त के हृदय में अपने को स्वयं प्रकट करते हैं। शुद्धभक्त के हृदय में श्रीकृष्ण का शाश्वत् निवास है; वे उस सूर्य के सदृश हैं, जो अज्ञानरूपी अन्धकार को हर लेता है। यह शुद्धभक्त पर श्रीकृष्ण की अशेष-विशेष कृपा है।

करोड़ों जन्म-जन्मान्तरों के विषयसंग के कारण जीव का चित्त निरन्तर विषयवासना रूपी मल से दूषित रहता है। परन्तु भक्तियोग में तत्पर होकर 'हरेकृष्ण' महामन्त्र का निरन्तर कीर्तन करने से यह मल तत्काल धुल जाता है और शुद्ध ज्ञान उद्दीप्त हो उठता है। परम लक्ष्य श्रीकृष्ण इस कीर्तन और भक्तिनिष्ठा से ही प्राप्त हो सकते हैं, मनोधर्म अथवा तर्क से नहीं। शुद्धभक्त जीवन की आवश्यकताओं के लिए कभी चिन्ता नहीं करता, उसे कोई चिन्ता नहीं सताती. क्योंकि जब वह अज्ञान रूपी अंधकार से हृदय को शुद्ध कर लेता है, तो उसकी भक्ति से प्रसन्न हुए श्रीभगवान् स्वयं सब पदार्थ उपलब्ध करा देते हैं। यही गीता के शिक्षामृत का सार है।

गीता-अध्ययन करके मनुष्य पूर्णरूप से श्रीभगवान् के शरणागत होकर शुद्ध भक्तियोग के परायण हो सकता है। संचालन की बागडोर जैसे ही प्रभु के पाणिपल्लवों में जाती है कि वह सब प्रकार के लौकिक प्रयत्नों से मुक्त हो जाता है।

अर्जुन उवाच।
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो ! आप परमब्रह्म, परमधाम, पावन परमतत्त्व और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप ही चिन्मय आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं। नारद, असित, देवल, व्यास आदि सारे ऋषि आप का इस प्रकार गुण-गान करते हैं और आप स्वयं भी मुझे इस का वर्णन सुना रहे हैं।।१२-१३।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

अनुवाद

हे कृष्ण ! मुझ से आपने जो कुछ भी कहा है, इसे मैं सम्पूर्ण रूप से सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! आप के स्वरूप को न तो देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं।।१४।।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

अनुवाद

हे भूतभावन ! हे परमेश्वर ! हे देवदेव ! हे पुरुषोत्तम ! हे जगत् के स्वामिन् ! वास्तव मे आप स्वयं ही अपने को अपनी शक्ति से जानते हैं।।१५।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

अनुवाद

कृपया मेरे लिए अपनी उन सम्पूर्ण दिव्य विभूतियों का वर्णन कीजिये, जिनके द्वारा आप इन सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।।१६।।

तात्पर्य

प्रतीत होता है कि अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्वज्ञान से तृप्त हो चुका है। श्रीकृष्ण की विशेष अनुकम्पा से उसे प्रत्यक्ष अनुभव, बुद्धि, ज्ञान और इन तीनों से होने वाला सम्पूर्ण बोध है। वह समझ गया है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। अब इस विषय में उसके लिए कोई संशय नहीं रहा है। फिर भी श्रीकृष्ण से उसकी प्रार्थना है कि वे अपने सर्वव्यापक स्वरूप का वर्णन करें, जिससे भविष्य के मनुष्य, विशेष रूप से, निर्विशेषवादी जान सकें कि अपनी नाना शक्तियों के द्वारा वे किस प्रकार सर्वव्यापी हैं। अतएव स्मरण रहे कि अर्जुन की यह जिज्ञासा जनसाधारण की ओर से ही है।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

अनुवाद

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार आपका नित्य स्मरण-चिन्तन करूँ ? और हे भगवन् ! किन-किन रूपों में मुझे आपका स्मरण करना चाहिये ?।।१७।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

अनुवाद

हे जनार्दन ! अपनी योगशक्ति और विभूतियों को फिर विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आप के अमृतमय वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।।१८।।

श्रीभगवानुवाच।
हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, अब मै तेरे लिए अपनी नित्य विभूतियों को मुख्य रूप से कहूँगा, क्योंकि हे अर्जुन ! मेरे ऐश्वर्य का अन्त नहीं है।।१९।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

अनुवाद

हे गुडाकेश! मैं सम्पूर्ण जीवो के हृदय में स्थित आत्मा हूँ तथा जीवमात्र का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।।२०।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

अनुवाद

अदिति के बारह पुत्रों में मैं विष्णु हूँ और ज्योतियों मे किरणमाली सूर्य हूँ, तथा मरुद्गणों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ।।२१।।

तात्पर्य

बारह आदित्यो में प्रधान होने से विष्णु श्रीकृष्ण के रूप है। आकाश की ज्योतियो में सूर्य मुख्य है। 'ब्रह्मसंहिता' में सूर्य को श्रीभगवान् का अशेष तेज और नेत्र रूप कहा गया है। मरीचि मरुद्गणो के अधीश्वर हैं। नक्षत्रों के मध्य यामिनी में चन्द्रमा का आधिपत्य रहता है; अत. वह श्रीकृष्ण का रूप हैं।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

अनुवाद

मै वेदो में सामवेद हूँ; देवताओ में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों मे मन हूँ और जीवो में चेतना हूँ।।२२।।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

अनुवाद

मैं सब रुद्रों में शिव हूँ; यक्ष-राक्षसों में धन-देवता कुबेर हूँ; वसुओं में मैं अग्नि हूँ और शिखरों में मेरु हूँ।।२३।।

तात्पर्य

ग्यारह रुद्रों में शंकर (शिव) प्रमुख हैं। वे श्रीभगवान् के गुणावतार हैं और ब्रह्माण्ड में

तमोगुण के अधिष्ठाता हैं। देवताओं के प्रधान कोषाध्यक्ष कुबेर भी श्रीभगवान् के रूप हैं। मेरु शिखर अपनी प्राकृतिक संपदा के लिये त्रिभुवन में विख्यात है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! पुरोहितों में मुख्य, भक्ति का स्वामी बृहस्पति मुझे जान; मैं ही सेनापतियों में युद्ध का अधीश्वर स्कन्द (कार्तिकेय) हूँ और जलाशयों में समुद्र हूँ।।२४।।

तात्पर्य

इन्द्र स्वर्ग का अधिपति और प्रधान है। उसके लोक को इन्द्रलोक कहा जाता है। देवराज इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति सब पुरोहितों में प्रधान हैं। जिस प्रकार इन्द्र देवराज है, उसी भाँति शिव-पार्वती के पुत्र स्कन्द (कार्तिकेय) सब सेनापतियों के प्रधान हैं। सब प्रकार के जलाशयों में समुद्र की सब से अधिक महत्ता है। श्रीकृष्ण की इन विभूतियों से तो उनकी अनुपम महिमा का वस्तुत. आभास मात्र ही होता है।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

अनुवाद

महर्षियों में मैं भृगु हूँ, वाणी में मैं दिव्य ओंकार हूँ; यज्ञों में भगवन्नामजप-रूपी यज्ञ मैं ही हूँ और स्थावरों में मैं हिमालय हूँ।।२५।।

तात्पर्य

ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा ने विविध योनियों में सन्तति-विस्तार के लिए जिन अनेक पुत्रों को उत्पन्न किया, उन सब में भृगु सर्वाधिक शक्तिशाली हैं। ये महर्षियों में प्रधान हैं। सब दिव्य वचनों में ओंकार श्रीभगवान् का रूप है। सब प्रकार के यज्ञों में **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।** महामन्त्र का जप-कीर्तन श्रीकृष्ण का सबसे शुद्ध स्वरूप है। कभी-कभी पशुयज्ञ का भी विधान किया जाता है, पर **हरे कृष्ण हरे कृष्ण** का यज्ञ इन सब से उत्तम है, क्योंकि इसमें कुछ हिंसा नहीं होती। इसीलिए यह यज्ञ परम सुगम और परम शुद्ध है। त्रिभुवन में जो कुछ भी उदात्त (भव्य) है, वह सब श्रीकृष्ण का रूप है। अतः संसार के सर्वाधिक उत्तुंग पर्वत—हिमालय भी उनके रूप हैं। 'मेरु' नामक शिखर का एक पिछले श्लोक में उल्लेख किया गया है; परन्तु मेरु कदाचित् जंगम भी हो जाता है, जबकि हिमालय नित्य स्थिर रहते हैं। इस दृष्टि से हिमालय

पर्वत मेरु से भी बढ़कर हैं।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

अनुवाद

सब वृक्षों में मैं पीपल का वृक्ष और देवर्षियों में नारद हूँ; गन्धर्वों में चित्ररथ तथा सिद्धों में कपिल मैं हूँ।।२६।।

तात्पर्य

पीपल का वृक्ष सबसे सुन्दर और उत्तुंग वृक्षों की कोटि में आता है; बहुत से व्यक्ति प्राय. प्रतिदिन प्रातःकाल उसकी अर्चना करते हैं। नारद मुनि की देवताओं में पूजा की जाती है, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। भक्त होने के कारण वे भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। गन्धर्वलोक गानप्रवण जीवों से परिपूर्ण हैं। इन सब में चित्ररथ नामक गायक सर्वोत्तम हैं। चिरजीवियों में कपिलदेव को श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है। श्रीमद्भागवत में उनके दर्शन का प्रतिपादन है। परवर्ती काल में एक अन्य कपिल प्रसिद्ध हो गया, पर उसका दर्शन अनीश्वरवादी है। दोनों में वस्तुतः आकाश-पाताल का भेद है।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

अनुवाद

हे अर्जुन! घोड़ों में सागर के अमृत से उत्पन्न उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा और गजराजों में ऐरावत नामक हाथी तथा मनुष्यों में राजा मुझ को ही जान।।२७।।

तात्पर्य

एक समय भक्त सुरों और अभक्त असुरों ने सागर का मन्थन किया। इस मन्थन से अमृत और विष दोनों निकले, जिसमें से विष का पान श्रीशिव जी ने कर लिया था। अमृत से अनेक रत्नों का उद्भव हुआ, जिनमें से एक उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा था। अमृत से ऐरावत नाम के गजराज की भी उत्पत्ति हुई। इन पशुओं की विलक्षण महत्ता है; इसलिए ये दोनों श्रीकृष्ण के रूप हैं।

मनुष्यों में राजा श्रीकृष्ण का रूप है; जैसे श्रीकृष्ण ब्रह्माण्ड-पालन करते हैं, वैसे ही दैवी गुणशील राजा अपने-अपने राज्य का पालन किया करते हैं। भगवान् राम, युधिष्ठिर और परीक्षित महाराज जैसे सभी राजा परम सदाचारी थे और सदा जनता के हित-चिन्तन में तत्पर रहते थे। वैदिक शास्त्रों में राजा को ईश्वर का रूप

माना है। दुर्भाग्यवश, धर्मभ्रष्टता के कारण वर्तमान युग में राजतन्त्र बिल्कुल नष्ट हो गया है। परन्तु यह निश्चित है कि पूर्ववती धार्मिक राजाओं के शासन में जनता आज से कहीं अधिक सुखी थी।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

अनुवाद

शस्त्रों में मैं वज्र हूँ और गायों में कामधेनु हूँ; शास्त्रोक्त रीति से सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव और सर्पों में मुख्य वासुकि भी मैं हूँ।।२८।।

तात्पर्य

वज्र वास्तव में बड़ा ही शक्तिशाली आयुध है। यह श्रीकृष्ण की शक्ति का प्रतीक है। वैकुण्ठ-जगत् में कृष्णलोक की गाया से किसी भी समय यथेष्ट मात्रा में दुग्ध का दोहन किया जा सकता है। अवश्य ही, प्राकृत-जगत् की गायें इस प्रकार की नहीं हैं, पर शास्त्रों से कृष्णलोक में उनका होना निश्चित रूप से सिद्ध होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इन 'सुरभि' नामक गायों को प्रचुर संख्या में पालते हैं। वे नित्य गोचारण निरत हैं। सदाचारी-सन्तान की उत्पत्ति के लिये लक्षित काम 'कन्दर्प' कहलाता है, जो श्रीकृष्ण का एक रूप है। केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए किया गया मैथुन श्रीकृष्ण का रूप नहीं है। सदाचारी सन्तान की उत्पत्ति में प्रयुक्त मैथुन ही कन्दर्प कहलाता है। यह भी श्रीकृष्ण की एक विभूति है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

अनुवाद

दिव्य नागों में मैं शेषनाग (अनन्त) हूँ और जलचरों में उनका अधिपति वरुण देवता हूँ; पितरों में अर्यमा नामक पितरेश्वर तथा शासन करने वालों में मृत्यु का नियन्ता यमराज मैं हूँ।।२९।।

तात्पर्य

नाना प्रकार दिव्य नागों में अनन्त (शेषनाग) सबसे महान् हैं और जलचरों में वरुण सर्वश्रेष्ठ हैं। ये दोनों ही श्रीकृष्ण के रूप हैं। अर्यमा नामक पितरेश्वर एक वृक्षमय लोक के अधीश्वर हैं। ये भी श्रीकृष्ण की विभूति हैं। बहुत से शक्तिशाली दुष्टों के लिए दण्ड का विधान करते हैं; इन सब में यमराज प्रधान हैं। ये यमराज पृथ्वी के एक निकट के लोक में स्थित हैं। मृत्यु के बाद पापात्मा प्राणियों को

वहाँ ले जाया जाता है और यम उनके लिये यथोक्ति दण्ड का विधान करते हैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

अनुवाद

दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूँ और दमन करने वालों में काल हूँ तथा पशुओं में सिंह और पक्षियों में मैं विष्णुवाहन गरुड़ हूँ।।३०।।

तात्पर्य

दिति और अदिति सगी बहनें हैं। इनमें से अदिति के पुत्र 'आदित्य' कहलाते हैं और दितिपुत्रों की 'दैत्य' संज्ञा है। सभी आदित्य भगवद्भक्त हैं, जबकि दैत्य नास्तिक हैं। दैत्यकुल में उत्पन्न होने पर भी प्रह्लाद बाल्य-काल से परम भागवत थे। उनके भक्तिभाव और देवोपम स्वभाव को देखते हुए उन्हें श्रीकृष्ण का रूप कहा जाता है।

सब प्रकार के दमनकारी तत्त्वों में काल श्रीकृष्ण का रूप है, क्योंकि समय के साथ प्राकृत-जगत् की प्रत्येक वस्तु का ह्रास हो जाता है। नाना प्रकार के पशुओं में सिंह सर्वाधिक शक्तिशाली एवं खूंखार है तथा पक्षियों की लाखों योनियों में भगवान् विष्णु के वाहन श्रीगरुड़जी सब से उत्कृष्ट हैं।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

अनुवाद

मैं पवित्र करने वालों में वायु हूँ और शस्त्रधारियों में राम हूँ, जलचरों मे मैं मगरमच्छ हूँ और नदियों में गंगा हूँ।।३१।।

तात्पर्य

मगरमच्छ बड़े जलचरों मे एक है और मनुष्य के लिए बहुत भयावह है। अतः यह श्रीकृष्ण की विभूति है। नदियों मे माँ गगा की सर्वोपरि महिमा है। रामायण के नायक भगवान् राम श्रीकृष्ण के एक विशेष अवतार हैं। ये योद्धाओं में सबसे बलशाली शूरवीर हैं।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! मैं ही सम्पूर्ण सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त हूँ; सम्पूर्ण विद्याओं में अध्यात्मविद्या हूँ और विवाद करने वालों में मैं तत्त्व-निर्णायक वाद हूँ।।३२।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

अनुवाद

मैं अक्षरों में अकार हूँ और समासों में द्वन्द्व समास हूँ तथा मैं ही अविनाशी काल और स्रष्टाओं में सब दिशाओं में मुख वाला ब्रह्मा हूँ।।३३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

अनुवाद

सब का नाश करने वाला मृत्यु और आगे होने वालो की उत्पत्ति का कारण भी मैं हूँ; स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।।३४।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

अनुवाद

मै मन्त्रों में, इन्द्र के लिए गाया जाने वाला बृहत्साम गान हूँ और छन्दों में ब्राह्मणों द्वारा नित्य उच्चारित गायत्रीमंत्र हूँ; महीनों में मार्गशीर्ष मास हूँ और ऋतुओं में मैं वसन्त हूँ।।३५।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् पहले कह आये हैं कि सम्पूर्ण वेदों में सामवेद विशिष्ट है, क्योंकि यह विभिन्न देवताओं द्वारा गाए पद्यों से परिपूर्ण है। इन्हीं में से एक गीति का नाम 'बृहत्साम्' है। इस परमोत्तम मधुर सगीतमय श्रुति का गायन निशीथ (मध्यरात्रि) के समय किया जाता है।

संस्कृत में काव्य के लिए शास्त्र द्वारा निर्धारित विधान हैं। आधुनिक कविता की भाँति देवभाषा में लय और ताल की रचना मनमाने ढंग से नहीं की जाती। शास्त्रीय छन्दों में 'गायत्री' प्रधान है; इसलिए गुणवान् ब्राह्मण इसे जपते हैं।

श्रीमद्भागवत में भी इस मन्त्र का उल्लेख है। इसका विशेष प्रयोजन स्वरूप-साक्षात्कार है; इसलिए यह भी भगवान् का स्वरूप है। यह मन्त्र उत्तम साधकों के लिए है और इसकी जप-सिद्धि से विशुद्ध सत्त्व में स्थिति हो जाती है। अतः इस मन्त्र का जप करने के लिए सत्त्वगुण में स्थित होकर उपयुक्त सद्गुणों से युक्त हो जाना चाहिए। गायत्री मन्त्र की वैदिक संस्कृति में वस्तुत. बड़ी महिमा है। इसे ब्रह्म का नाद-अवतार माना जाता है। ब्रह्मा इसके गुरु हैं और उन्हीं की शिष्यपरम्परा में यह प्राप्त होता है।

मार्गशीर्ष मास अन्य सभी मासों से श्रेष्ठ है। इस समय खेतों से अन्न इकट्ठा किया जाता है और जनता आनन्दित रहती है। वसन्त ऋतु सम्पूर्ण विश्व में लोकप्रिय है ही, क्योंकि इस समय न अधिक उष्णता होती है और न ही अधिक शीत रहता है तथा कुसुम और वृक्ष मुकुलित होते हैं, फलते-फूलते हैं। वसन्त में श्रीकृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित बहुत से महोत्सव भी आते हैं। सबसे अधिक आनन्दमयी ऋतु होने के नाते वसन्त श्रीकृष्ण का रूप है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

अनुवाद

मैं छल करने वालों में जुआ हूँ और प्रभावशालियों का प्रभाव हूँ। मैं विजय हूँ, मैं साहस हूँ और मैं ही बलवानों का बल हूँ।।३६।।

तात्पर्य

ससार भर में भाँति-भाँति के छल करने वाले है। द्युतकर्म इन सब छल-साधनों का मुकुटमणि है; इसलिए वह भी श्रीकृष्ण की विभूति है। परात्पर होने के कारण श्रीकृष्ण किसी भी मनुष्य से बढ़कर छल कर सकते हैं। यदि श्रीकृष्ण किसी को छलना चाहें तो उन्हें कोई भी नहीं हरा सकता। स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण की महानता एकांगी न होकर सर्वांगीण है।

विजेताओं में श्रीकृष्ण मूर्तिमान विजय हैं; प्रभावशाली पुरुषों के प्रभाव हैं; उद्यमी उद्योगपतियों में सर्वाधिक उद्यमी हैं; साहसिकों में परम साहसी हैं और बलवानों में परम बलशाली हैं। जब श्रीकृष्ण पृथ्वी पर प्रकट थे, तो कोई भी बल में उनका पार नहीं पा सका। यहाँ तक कि बाल्यकाल में उन्होंने गोवर्धन पर्वत को खेल-खेल में ही धारण कर लिया था। श्रीकृष्ण छल करने में अतुलनीय हैं, तेज में अतुलनीय हैं,

जय और साहस में अतुलनीय हैं तथा बल में भी अतुलनीय हैं।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

अनुवाद

वृष्णिवंशियों में मैं वासुदेव हूँ और पाण्डवों में अर्जुन हूँ तथा मुनियों में वेदव्यास और कवियों में उशना (शुक्राचार्य) हूँ।।३७।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण आदिपुरुष स्वयं भगवान् हैं और वासुदेव उनके स्वयंप्रकाश हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलराम दोनों वसुदेवजी ने पुत्ररूप में प्रकट होते हैं। पाण्डवों में अर्जुन सर्वाधिक प्रख्यात और शूरवीर हैं। नरोत्तम होने के कारण वे श्रीकृष्ण के ही स्वरूप हैं। वैदिक ज्ञान के विज्ञ मुनियों में व्यासदेव सबसे महान् हैं; उन्होंने वैदिक ज्ञान का नाना प्रकार से वर्णन किया, जिससे इस कलियुग के मनुष्य भी उसे समझ सकें। व्यासदेव श्रीकृष्ण के अवतार हैं, इसलिए भी श्रीकृष्ण के रूप हैं। जो मनुष्य किसी विषय का सूक्ष्मार्थ विवेचन कर सकते हैं, उन्हें 'कवि' कहा जाता है। उशना (शुक्राचार्य) नामक कवि दैत्यों के गुरु थे। राजनीतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वतः परम बुद्धिमान् और दूरदर्शी होने के कारण श्रीकृष्ण की विभूतियों में उनकी गणना की गयी है।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

अनुवाद

मैं दण्ड करने वालों का दण्ड हूँ और विजय की इच्छा वालों की नीति हूँ; गोपनीय भावों मे मौन तथा ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ।।३८।।

तात्पर्य

विविध प्रकार के दमनकारी तत्त्वों में उनका सबसे अधिक महत्त्व है, जो दुष्टों का नाश करते हैं। दुष्ट-दमन के लिये प्रयुक्त दण्ड श्रीकृष्ण का रूप है। किसी भी क्रियाक्षेत्र में विजय के अभिलाषियों में रीति की ही अन्तिम विजय होती है। सुनना, सोचना, मनन करना आदि गोपनीय क्रियाओं में मौन सबसे महत्त्वपूर्ण हैं, मौन से अतिशीघ्र उन्नति होती है। ज्ञानी वह है, जो जड़ प्रकृति और आत्मा में तथा श्रीभगवान् की परा और अपरा शक्तियों में भेद को जानता हो। यह ज्ञान साक्षात् श्रीकृष्ण का स्वरूप है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! अधिक क्या, मैं ही सम्पूर्ण सृष्टि का आदिबीज हूँ। ऐसा चराचर कुछ भी नहीं है जो मेरे बिना हो।।३९।।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

अनुवाद

हे शत्रुविजयी अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नही है। यह तो मैंने तेरे लिए अपनी विभूतियों का विस्तार संक्षेप से कहा है।।४०।।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।४१।।

अनुवाद

जो जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान।।४१।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अनुवाद

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है ? तू केवल इतना जान ले कि अपने एक अंशमात्र से इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करके मैं इसमें व्याप्त हो रहा हूँ।।४२।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् परमात्मारूप से सब सत्त्वों मे प्रवेश करके सम्पूर्ण प्राकृत-सृष्टि में व्याप्त हो रहे हैं। यहाँ वे अर्जुन से कहते हैं कि नाना वस्तुओं के ऐश्वर्य और उत्कर्ष को अलग-अलग जानने का कोई अर्थ नही है। उसके लिए केवल इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता इसीलिए है कि श्रीकृष्ण ने उन सब में परमात्मारूप से प्रवेश किया है। उसे जानना चाहिए कि सब से बड़े जीव, ब्रह्मा से लेकर तुच्छ चींटी तक सबके सब प्राणी जीवित हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक में श्रीभगवान् का प्रवेश है; वे ही उन

सबका पालन-पोषण कर रहे हैं।

इस श्लोक से सिद्ध हो जाता है कि देवताओं की उपासना करना योग्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा, शिव आदि देवताओ में श्रीभगवान् के ऐश्वर्य का केवल एक अंश है। श्रीभगवान् सब के आदिकारण हैं, उनसे अधिक महिमामय दूसरा कोई नहीं है। वे असमोर्ध्व हैं, अर्थात् उनके समान कोई नहीं है, फिर बड़ा तो होगा ही क्यों कर। '*विष्णुमन्त्र*' मे *कहा गया है कि श्रीभगवान् को ब्रह्मा और शिव आदि किसी देवता के* समान माननेवाला उसी क्षण नास्तिक हो जाता है। परन्तु यदि श्रीकृष्ण की शक्ति के नाना ऐश्वर्यों और प्रकाशो की कथाओं का गम्भीर स्वाध्याय किया जाय, तो श्रीकृष्ण का तत्त्व निश्चित रूप से जानने में आ सकता है और परिणाम में मन भी श्रीकृष्ण की आराधना में अनन्य भाव से निवेशित हो सकता है। श्रीभगवान् का अंश-प्रकाश परमात्मा सब पदार्थों में प्रविष्ट है, इसलिए वे सर्वव्यापी हैं। अत. शुद्धभक्त पूर्ण भक्तिभाव के साथ कृष्णभावना में निमग्न-चित्त हो जाते और इससे नित्य शुद्ध सत्त्व में स्थित रहते है। आठवें से ग्यारहवें श्लोक तक भक्तियोग का तथा श्रीकृष्ण की आराधना का अतिशय विशद निर्देश है। शुद्ध भक्ति का यही मार्ग है। इस अध्याय में उस साधन का पूर्ण विवरण है, जिसके द्वारा भक्तियोग की परम संसिद्धि, अर्थात् श्रीभगवान् के सग की प्राप्ति हो जाती है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगोनाम दशमोऽध्यायः ।।१०।।
इति भक्तिवेदान्तभाष्ये दशमोऽध्यायः ।।

अथैकादशोऽध्यायः

विश्वरूपदर्शनयोग

(श्रीभगवान् का विश्वरूप)

अर्जुन उवाच।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो! आपने कृपापूर्वक मुझसे जिस अध्यात्म-विज्ञान का रहस्यमय उपदेश कहा, उसे सुनने से मेरा यह मोह नष्ट हो गया है।।१।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण सब कारणों के परम कारण हैं—यह अध्याय इसी रहस्य को उद्घाटित करता है। वे महाविष्णु के भी कारण हैं और उन्हीं से प्राकृत-सृष्टि उत्पन्न होती है। श्रीकृष्ण अवतार नहीं हैं; वे सम्पूर्ण अवतारों के उद्गम हैं, अवतारी हैं। पूर्ववर्ती दसवें अध्याय में यह तत्त्व सम्पूर्ण रूप से प्रतिपादित हो चुका है।

अब, जहाँ तक अर्जुन का सम्बन्ध है, वह स्वयं कहता है कि उसका मोह नष्ट

हो गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीकृष्ण को अब वह साधारण मनुष्य और अपना सखा ही नहीं मानता; वह जान गया है कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सृष्टि के मूल हैं। अर्जुन परम प्रबुद्ध हो चुका है और यह जानकर आनन्दसिन्धु में निमग्न है कि श्रीकृष्ण जैसे महान् सखा से उसका सख्य है। परन्तु साथ ही, विचार करता है कि उसके द्वारा श्रीकृष्ण को सब कारणो का कारण स्वीकार कर लेने पर भी हो सकता है कि दूसरे ऐसा न करें। अतएव श्रीकृष्ण स्वय भगवान् हैं, इस सत्य को जीवमात्र के लिये सार्वभौम रूप से स्थापित करने के उद्देश्य से अर्जुन ने इस अध्याय में श्रीकृष्ण से अपने विश्वरूप का दर्शन कराने की प्रार्थना की है। वास्तव में जब भी किसी को श्रीकृष्ण के विश्वरूप का दर्शन होता है, तो वह अर्जुन की ही भाँति भयभीत हो जाया करता है। परन्तु श्रीकृष्ण इतने कृपामय है कि उस विश्वरूप का दर्शन देकर फिर से अपना मूल द्विभुज रूप धारण कर लेते है। श्रीकृष्ण ने बारबार जो कुछ कहा है, अर्जुन उसे सत्य मानता है। उसका कल्याण हो, इसीलिए श्रीकृष्ण उसे उपदेश कर रहे हैं और अर्जुन भी स्वीकार करता है कि उसके मोह का निवारण उनकी अहैतुकी कृपा का ही फल है। उसे अब पूर्ण विश्वास है कि श्रीकृष्ण सब कारणो के परम कारण और जीवमात्र के अन्तर्यामी परमात्मा हैं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

अनुवाद

हे कमलनयन! मैने जीवो की उत्पत्ति और प्रलय का तत्त्व आपसे विस्तारपूर्वक सुना है और आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है, जिससे इस तत्त्व की अनुभूति होती है।।२।।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

अनुवाद

हे परमेश्वर! हे पुरुषोत्तम! यद्यपि यहाँ अपने सामने मैं आपके स्वयं रूप का दर्शन कर रहा हूँ, फिर भी हे प्रभो! आपका वह रूप देखना चाहता हूँ, जिससे आप इस सृष्टि में प्रविष्ट हुए हैं। विभो! मैं आपका वही रूप देखना चाहता हूँ।।३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् पूर्व में कह आये हैं कि उन्होंने अंशरूप से प्राकृत ब्रह्माण्ड में प्रवेश

किया है; इसी कारण इस सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति है। जहाँ तक अर्जुन का सम्बन्ध है, उसे श्रीकृष्ण के वचनों में लेशमात्र संशय नहीं है। परन्तु श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानने वाले भावी मनुष्यों में श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, यह निष्ठा जागृत करने के लिए वह उनके विश्वरूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता है। वह देखना चाहता है कि ब्रह्माण्ड से असंग होने पर भी श्रीकृष्ण उसमें किस प्रकार क्रियाशील हैं। श्रीकृष्ण से अर्जुन का यह निवेदन गूढ़ार्थ रखता है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और इस कारण अर्जुन के भी अन्तर्यामी हैं। अतएव वे अर्जुन की वाँछा को जानते हैं और समझ सकते हैं कि अर्जुन में निजी रूप से विश्वरूपदर्शन की कोई विशेष इच्छा नहीं है। वह उनके कृष्णरूप के दर्शन से पूर्ण तृप्त है। वे जानते हैं कि अन्य मनुष्यों में वे भगवान् हैं, इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न करने के उद्देश्य को लेकर ही अर्जुन उनके विश्वरूप दर्शन के लिय उत्कण्ठित है। उसे अपने लिए श्रीकृष्ण की भगवत्ता का कोई प्रमाण नहीं चाहिए। श्रीकृष्ण जानते हैं कि अर्जुन विश्वरूप के दर्शन से एक कसौटी स्थापित करना चाहता है, क्योंकि भविष्य में अपने को भगवत्-अवतार कहने वाले धूर्तों की बहुलता होगी। अतः जनता सावधान रहे, जो अपने को कृष्ण बताता है, उसे जनता के सामने अपने दावे को प्रमाणित करने के लिये विश्वरूप दिखाने को तैयार रहना चाहिये।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम॥४॥

अनुवाद

यदि आपके विचार में मेरे द्वारा आपका वह विश्वरूप देखा जा सकता है, तो हे प्रभो! हे योगेश्वर! कृपया उसी अविनाशी रूप का मुझे दर्शन कराइये॥४॥

तात्पर्य

शास्त्र का सिद्धान्त है कि प्राकृत इन्द्रियों से भगवान् श्रीकृष्ण को न तो देखा जा सकता है, न सुना जा सकता है और न अनुभव ही किया जा सकता है। किन्तु यदि कोई प्रारम्भ से भगवद्भक्ति के परायण रहे तो वह श्रीभगवान् का साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है। जीवात्मा चैतन्य का एक अणु मात्र है, इसलिए वह अपने बल पर परम चैतन्य परमेश्वर श्रीकृष्ण को देख अथवा तत्त्व से जान नहीं सकता। भक्त अर्जुन ज्ञानमार्ग की अनुमान शक्ति पर निर्भर नहीं है। उसने माना है कि जीव होने के कारण वह सर्वथा अपूर्ण है, जबकि श्रीकृष्ण अनन्त हैं, उनकी महिमा अगाध है। अर्जुन समझ सकता है कि जीव अपने उद्यम से अनन्त को नहीं जान सकता; अनन्त द्वारा कृपापूर्वक अपने को

उद्घाटित करने पर ही वह उनका तत्त्व जान पाता है। श्रीभगवान् के लिए यहाँ **योगेश्वर** शब्द महत्त्वपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि वे अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न हैं, इसलिए यदि चाहें तो अनन्त होने पर भी अपने को प्रकट कर सकते हैं। अस्तु, अर्जुन श्रीकृष्ण से उनके अचिन्त्य अनुग्रह की याचना कर रहा है, आदेश नहीं दे रहा। श्रीकृष्ण तब तक किसी को अपना दर्शन कराने को बाध्य नहीं हैं, जब तक वह कृष्णभावनाभावित होकर पूर्ण रूप से उनके शरणागत और भक्तिनिष्ठ न हो जाय; मनोधर्म के बल पर निर्भर रहने वाले मनुष्य के लिए उनका दर्शन अलभ्य है।

श्रीभगवानुवाच।
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन ! हे पार्थ ! अब तू मेरी विभूतियों—सागर के सदृश नाना वर्ण और आकार वाले सैकड़ों-हजारों दिव्य रूपों को देख।।५।।

तात्पर्य

अर्जुन श्रीकृष्ण के उस विश्वरूप के दर्शन का अभिलाषी है, जो लोकोत्तर होते हुए भी प्रकट सृष्टि के निमित्त से प्रकाशित होता है और इस कारण जो माया के अनित्य-कालचक्र से बाधित है। माया के समान ही श्रीकृष्ण का यह विश्वरूप भी समय-समय पर प्रकट-अप्रकट हुआ करता है। यह श्रीकृष्ण के स्वयंरूपों के समान वैकुण्ठ में नित्य नहीं रहता। भगवद्भक्त सामान्यतः इस विश्वरूप के दर्शन की इच्छा नहीं करता। परन्तु अर्जुन इसे देखने के लिए उत्कंठित है; इसलिए श्रीकृष्ण इसे प्रकट कर रहे हैं। यह विश्वरूप किसी साधारण मनुष्य के लिए दर्शनीय नहीं है। श्रीकृष्ण की शक्ति से ही इसका दर्शन हो सकता है।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन ! यहाँ मुझमें आदित्यों को, अर्थात् अदिति के बारह पुत्रों को, आठ वसुओं को, ग्यारह रुद्रों को और अन्य सभी देवताओं को देख तथा और भी बहुत से ऐसे आश्चर्यमय रूपों को देख, जिन्हें पहले किसी ने देखा-सुना नहीं है।।६।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

अनुवाद

तुझे जो कुछ भी देखने की इच्छा हो, वह सब मेरे इस शरीर में इसी समय देख सकता है। इस समय जो देखना चाहे अथवा भविष्य में भी जो कुछ देखने की तेरी इच्छा हो, वह सब इस विश्वरूप में देख ले। यहाँ चराचर सम्पूर्ण जगत् दृष्टिगोचर है।।७।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

अनुवाद

परन्तु अपने चर्म-चक्षुओं से तू मुझे नहीं देख सकेगा। इसलिए तुझे दिव्य-दृष्टि प्रदान करता हूँ, जिससे तू मेरी योगशक्ति और ऐश्वर्य को देख सके।।८।।

तात्पर्य

शुद्धभक्त द्विभुज-रूप के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के अन्य किसी रूप को देखने की अभिलाषा नहीं रखता। भक्त को उनके विश्वरूप का दर्शन उन्हीं की कृपा से मिली दिव्य-दृष्टि से करना है, मन से नहीं। श्रीकृष्ण के विश्वरूप के दर्शनार्थ अर्जुन को अपनी दृष्टि बदलने को ही कहा गया है, चित्त को नही। श्रीकृष्ण के विश्वरूप की अधिक महत्ता नहीं है, जैसा अनुवर्ती श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा। तथापि, क्योंकि अर्जुन उसे देखने का अभिलाषी है, इसलिए श्रीभगवान् उसे वह दृष्टि दे रहे हैं, जिससे उस विश्वरूप का दर्शन हो सकता है।

श्रीकृष्ण के साथ यथार्थ रस-सम्बन्ध वाले भक्त प्रेममय रूपों के प्रति ही आकृष्ट होते हैं, ऐश्वर्यों के निरीश्वर प्रदर्शन से नहीं। श्रीकृष्ण के सहचर, सखा तथा माता-पिता यह कभी नहीं चाहते कि श्रीकृष्ण अपने ऐश्वर्य का प्रकाश करे। वे शुद्धप्रेम में डूबे रहते हैं और इतना भी नहीं जानते कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीकृष्ण के साथ प्रेमरस का विनिमय करते हुए यह विस्मृति सी हो जाती है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर है। श्रीमद्भागवत में कथन है कि वृन्दावन मे श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा करने मे मग्न सभी बालक परम पुण्यात्मा हैं; बहुत जन्मों तक तपश्चर्या करने के बाद कहीं जाकर उन्हें श्रीकृष्ण के साथ क्रीड़ा करने का सुयोग मिला है। ये बालक नही जानते कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, वे तो उन्हें अपना सखा ही मानते हैं। जहाँ परमपुरुष को

महर्षिगण ब्रह्म मानते हैं और भक्त भगवान् मानते हैं, वहीं साधारण मनुष्य उन्हें माया का कार्य समझते हैं। वास्तव में विश्वरूप दर्शन से भक्त का कोई प्रयोजन नहीं है। अर्जुन तो केवल श्रीकृष्ण के वाक्य को सिद्ध करने के लिये उसे देखना चाहता था, जिससे भविष्य में होने वाले मनुष्य यह समझ सकें कि श्रीकृष्ण ने अपने को परम सत्य घोषित ही नहीं किया; बल्कि अर्जुन को वास्तव में अपने इस रूप का दर्शन भी कराया। अर्जुन के लिये इस तथ्य को प्रमाणित करना आवश्यक है, क्योंकि उससे परम्परा का प्रारम्भ हो रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण के तत्वबोध के लिये जो अर्जुन के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हैं, उन मनुष्यों को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि श्रीकृष्ण ने केवल परम सत्य होने का दावा ही नहीं किया, अपने इस रूप को वास्तव में प्रकट भी किया।

श्रीभगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप दर्शन के लिये पर्याप्त शक्ति दी है, यद्यपि जैसा पूर्व वर्णन है, वे जानते हैं कि अर्जुन उसे अपने लिए नहीं देखना चाहता।

सञ्जय उवाच।
एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

अनुवाद

संजय ने कहा, हे राजन् ! इस प्रकार कह कर परम योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने ऐश्वर्यमय विश्वरूप का दर्शन कराया।।९।।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

अनुवाद

अर्जुन ने उस विश्वरूप में असंख्य मुखों और नेत्रों को देखा। श्रीभगवान् का वह सर्वआश्चर्यमय रूप दिव्य प्रकाशवान् भूषणों और नाना प्रकार के परिधानों से अलंकृत था। उन्होंने दिव्य माला धारण कर रखी थी और हाथों में अनेक दिव्य शस्त्र उठाये हुए थे तथा उनका विग्रह विविध सुगन्धों से उपलिप्त था। अधिक क्या, वह रूप परम उज्ज्वल, सर्वव्यापक एवं अनन्त था। अर्जुन ने यह सब साक्षात् देखा।।१०-११।।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

अनुवाद

यदि आकाश में हजारों सूर्यों का एक साथ उदय हो तो उन से उत्पन्न प्रकाश भी श्रीभगवान् के उस विश्वरूप के तेज के समान कदाचित् ही हो।।१२।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

अनुवाद

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त सम्पूर्ण जगत् को भगवान् श्रीकृष्ण के उस कलेवर में एक स्थान पर स्थित देखा।।१३।।

तात्पर्य

तत्र शब्द का गम्भीर आशय है। इससे प्रकट होता है कि जब अर्जुन ने विश्वरूप का दर्शन किया, उस समय श्रीकृष्ण-अर्जुन दोनो रथ पर आसीन थे। युद्धभूमि में अन्य योद्धा इस रूप को नहीं देख सके, क्योंकि श्रीकृष्ण ने केवल अर्जुन को ही दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के विग्रह में सहस्रों ब्रह्माण्डों को देखा। जैसा वैदिक शास्त्रों से ज्ञात है, सृष्टि में अनेक ब्रह्माण्ड और लोक हैं। उनमें से कुछ मृण्मय हैं; कुछ हिरण्यमय हैं; कुछ मणिमय हैं; कुछ अति बड़े हैं और कुछ इतने बड़े नही है, इत्यादि। अर्जुन ने अपने रथ पर बैठे-बैठे ही इन सब लोको को देखा। परतु श्रीकृष्ण और अर्जुन में परस्पर क्या वार्ता हो रही है, यह कोई नहीं जान सका।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

अनुवाद

उस रूप को देखकर आश्चर्य से चकित और पुलकित शरीर वाला अर्जुन श्रीभगवान् को सिर से प्रणाम कर के हाथ जोड़े हुए प्रार्थना करने लगा।।१४।।

अर्जुन उवाच।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे

सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

अनुवाद

हे देवाधिदेव श्रीकृष्ण ! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवों को और नाना प्रकार के अन्य प्राणियों को देख रहा हूँ। कमल पर आसीन ब्रह्मा, शिवजी, ऋषियों और दिव्य सर्पों को भी देखता हूँ।।१५।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

अनुवाद

हे सम्पूर्ण जगत् के स्वामिन्! आपके विश्वरूप को अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त और सब ओर से अनन्त रूप वाला देखता हूँ। आपके इस रूप का न तो आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है।।१६।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।१७।।

अनुवाद

नाना प्रकार के मुकुटों, गदा और चक्र से सुशोभित आपका रूप अपने उस तेजोमय प्रकाश के कारण देखने में अति गहन है, जो सूर्य के समान प्रज्वलित और अगाध है।।१७।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

अनुवाद

प्रभो ! आप ही जानने योग्य परमब्रह्म हैं, आप ही जगत् के परम आश्रय, पुराण पुरुष हैं और आप ही सनातनधर्म के रक्षक अविनाशी भगवान् हैं, ऐसा मेरा मत है।।१८।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

अनुवाद

देव ! आप आदि, अन्त और मध्य से रहित आदिपुरुष हैं। आपकी भुजाओं और सूर्य-चन्द्ररूप नेत्रों की अनन्त संख्या है और अपने तेज से आप इस सम्पूर्ण विश्व को तपायमान कर रहे हैं।।१९।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

अनुवाद

सम्पूर्ण आकाश, विविध लोक और उनका बीच का अन्तरिक्ष, यह सब एक आप से ही परिव्याप्त हो रहा है। हे महात्मन् ! आपके इस भयंकर रूप को देखकर संपूर्ण लोक अति व्यथा को प्राप्त होते हैं।।२०।।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

अनुवाद

देववृन्द आपकी शरण लेकर आपमें प्रवेश कर रहे हैं। अत्यन्त भयभीत होने के कारण उनमें से कुछ दूर से ही हाथ जोड़े हुए प्रार्थना कर रहे हैं और महर्षि और सिद्धों के समुदाय कल्याण हो, ऐसा कहकर वैदिक मन्त्रों से आपकी स्तुति करते हैं।।२१।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

अनुवाद

ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वदेव, दोनों अश्विनी कुमार, मरुद्‌गण और पितर तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण आदि सभी विस्मय-विस्फारित हुए आपको देखते हैं।।२२।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

अनुवाद

हे महाबाहु! आपके बहुत से मुख, नेत्र, हाथ, जघा और पैरों वाले एव अनेक उदरों से युक्त विकराल जाड़ों वाले इस महान् रूप को देखकर देवताओं सहित सब लोक व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ।।२३।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

अनुवाद

हे सर्वान्तशायी विष्णो! आकाश के साथ स्पर्श करते हुए देदीप्यमान नाना रूपों से युक्त तथा फैलाये हुए मुख और तेजोमय विशाल नेत्रों वाले आप को देखकर भयभीत अन्तःकरण वाला मैं धैर्य और शान्ति को नहीं पाता हूँ।।२४।।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

अनुवाद

हे देवाधिदेव! हे जगन्निवास! आपके विकराल दाँतों वाले प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मैं सुख को प्राप्त नहीं होता हूँ। सब दिशाओं से मुझे मोह की ही प्राप्ति हो रही है। इसलिए हे प्रभो! आप प्रसन्न हों।।२५।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः।।२७।।

अनुवाद

वे सभी धृतराष्ट्र के पुत्र अपने पक्ष के राजाओं के साथ तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्ष के योद्धा भी वेगपूर्वक विकराल दाँतों वाले आपके मुखों मे प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कुछ तो चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच लगे हुए भी दिखते हैं।।२६-२७।।

तात्पर्य

पूर्व श्लोक में श्रीभगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि वे अर्जुन को ऐसे दृश्य देखायेंगे, जिन्हें देखना उसे हार्दिक रुचिकर होगा। अर्जुन इस समय भीष्म, द्रोण, कर्ण और धृतराष्ट्रपुत्रों आदि महारथियों सहित विपक्षी सैनिकों को और अपने दल के योद्धाओं को भी कालकवलित होते हुए देख रहा है। यह इस ओर संकेत करता है कि दोनों पक्षों की भारी क्षति होने पर भी अन्त में अर्जुन युद्ध में विजयी रहेगा। यहाँ यह भी इंगित है कि अजेय समझे जाने वाले भीष्म तक का विनाश हो जायगा। इसी प्रकार कर्ण भी मारा जायगा। युद्ध में भीष्म आदि विपक्षीय योद्धा ही काल के ग्रास नहीं बनेंगे; वरन् अर्जुन के पक्ष के बड़े-बड़े योद्धा भी वीरगति को प्राप्त होंगे।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।

तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

अनुवाद

जिस प्रकार नदियों के जलप्रवाह समुद्र की ओर दौड़ते हैं, वैसे ही ये सब शूरवीर आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।।२८।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

अनुवाद

मैं देखता हूँ कि ये सब उसी प्रकार नाश के लिए पूर्ण वेग से आपके मुखो में प्रवेश कर रहे हैं, जैसे पतंग अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में वेग से गिरते हैं।।२९।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

अनुवाद

हे विष्णो ! हे विश्वव्यापिन् ! मै देखता हूँ कि आप अपने प्रज्वलित मुखों से सम्पूर्ण लोक को ग्रसते हुए सब ओर से चाट रहे है तथा आपका उग्र प्रकाश ब्रह्माण्ड को तेज से परिपूर्ण कर के जगत् को तपा रहा है।।३०।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

अनुवाद

हे देवाधिदेव ! कृपया कहिये कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं ? मैं आपको प्रणाम करता हूँ; मुझपर प्रसन्न होइए। हे आदिस्वरूप ! मैं आपको जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्ति को नहीं जानता।।३१।।

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः । ।३२ । ।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन ! मैं लोकों का नाश करने के लिए बढ़ा महाकाल हूँ और इस समय इन लोको को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए तुम पाण्डवो के अतिरिक्त यहाँ दोनो सेनाओ के सब योद्धा मृत्यु को प्राप्त होंगे; तेरे युद्ध न करने पर भी इनका नाश अवश्य होगा। ।३२ । ।

तात्पर्य

यह जानते हुए भी कि श्रीकृष्ण उसके सखा और स्वयं भगवान् है, अर्जुन उनके द्वारा प्रकटित विविध रूपों को देखकर परम विस्मित हो उठा। अतएव उसने इस प्रलयकारी शक्ति-प्राकट्य का उद्देश्य जानना चाहा। वेदो मे उल्लेख है कि परमसत्य श्रीभगवान् ब्रह्मासहित सभी कुछ नष्ट कर देते है। **यस्य ब्रह्मे च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्थावेद यत्र सः।** अन्त मे ब्राह्मणो, क्षत्रियों तथा अन्य सभी को श्रीभगवान् ग्रस लेते है। परमेश्वर का वह रूप सर्वभक्षक विराट् है। यहाँ श्रीकृष्ण ने सब का नाश करने वाले अपने उसी महाकाल रूप को प्रकट किया है। पाण्डवो के अतिरिक्त, युद्धभूमि मे विद्यमान सभी योद्धा उनके ग्रास बनेगे।

अर्जुन को युद्ध करना अनुकूल प्रतीत नहीं हो रहा था। उसका विचार था कि युद्ध न करना अधिक उत्तम होगा, इससे कम से कम निराशा तो नही होगी। इस तर्क के उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि उसके युद्ध से उपरत हो जाने पर भी वे सब विपक्षी नष्ट अवश्य होंगे, क्योकि उनकी ऐसी ही इच्छा है। यदि अर्जुन युद्ध नही करेगा, तो भी वे योद्धा किसी और प्रकार से कालकवलित हो जायेंगे। भाव यह है कि उसके युद्ध न करने से उनकी मृत्यु का निवारण नही हो सकेगा। वे तो वस्तुत. पहले ही मर चुके है। प्रकृति का नियम है कि सब का क्षयकारी काल श्रीभगवान् की इच्छा के अनुसार सब का नाश कर देता है।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

अनुवाद

अतएव तू खड़ा होकर युद्ध के लिये कटिबद्ध हो और शत्रुओं को मार कर महान् यश और समृद्ध राज्य को प्राप्त कर। ये सब शूरवीर पहले ही मेरे द्वारा मारे हुये हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमितमात्र हो।।३३।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण आदि सब महारथी मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। इसलिए निर्भय होकर युद्ध कर; निःसन्देह तू युद्ध में वैरियों को जीतेगा।।३४।।

सञ्जय उवाच।
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

अनुवाद

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा, हे राजन्! श्रीभगवान् से इन वचनों को सुनकर भयभीत अर्जुन काँपता हुआ हाथ जोड़ कर बारम्बार प्रणाम करके गद्गद वाणी से बोला।।३५।।

अर्जुन उवाच।
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।।३६।।

अनुवाद

हे हृषीकेश ! आपका नाम-संकीर्तन सुनकर सम्पूर्ण विश्व अति हर्षित और आपमें अनुरक्त हो रहा है। सभी सिद्धप्राणी आपको प्रणाम करते हैं; जबकि राक्षसगण भयभीत होकर दिशाओं में भाग रहे हैं। यह सब योग्य ही है।।३६।।

तात्पर्य

कुरुक्षेत्र-युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के वचन को सुनकर भक्त अर्जुन प्रबुद्ध हो गया। उसने स्वीकार किया कि श्रीकृष्ण जो कुछ करते हैं, वह सब योग्य है। वह मान रहा है कि श्रीकृष्ण भक्तों के पालनकर्ता और आराध्य हैं तथा दुष्टों का विनाश करने वाले हैं। उनकी क्रिया सभी के लिये समान रूप से कल्याणकारी है। अर्जुन जानता है कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण की उपस्थिति के कारण अनेक देवता, सिद्ध तथा उच्चलोकों के निवासी आकाश से उस युद्ध का निरीक्षण कर रहे हैं। जब उसे प्रभु के विश्वरूप का दर्शन हुआ तो देवता प्रसन्न हुए, परन्तु असुर और अनीश्वरवादी श्रीभगवान् के संकीर्तन को सहन नहीं कर सके। असुरों को श्रीभगवान् के उस प्रलयकारी रूप से स्वभावतः बड़ा भय होता है, इसलिए वे पलायन कर गये। अर्जुन ने भक्तों और नास्तिकों से यथायोग्य व्यवहार करने के लिए श्रीकृष्ण की स्तुति की। भक्त सब अवस्थाओं में श्रीकृष्ण का जयजयकार करता है। वह जानता है कि वे जो भी क्रिया करते हैं, उसमें प्राणीमात्र का कल्याण है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

अनुवाद

हे महात्मन् ! आप ब्रह्मा के भी बड़े आदिकर्ता हैं। वे आपको नमस्कार कैसे न करें। क्योंकि हे अनन्त ! हे जगन्निवास ! आप ही तो सब कारणों के कारण और इस जगत् से परे परम अक्षर हैं।।३७।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

अनुवाद

प्रभो ! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप ही इस प्राकृत-जगत् के एकमात्र आश्रय हैं। आप सब कुछ जानते हैं और जो कुछ जानने योग्य है, वह भी आप ही हैं। हे अनन्तरूप! यह सम्पूर्ण सृष्टि आप से व्याप्त है।।३८।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण सृष्टि श्रीभगवान् के आश्रय में स्थित है; अतएव वे ही परमाश्रय हैं। **निधानम्** का अर्थ है कि ब्रह्मज्योति सहित सब कुछ भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित है। इस संसार में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का उन्हे ज्ञान है और वे ही सम्पूर्ण ज्ञान के लक्ष्य है। अत. उन्हे **वेत्ता** और **वेद्य** कहा गया है। सर्वव्यापक होने के रूप में वे वेद्य (जानने योग्य) है; परमधाम के कारण होने से गुणातीत हैं तथा वे ही वैकुण्ठ-जगत् मे प्रधानपुरुष है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

अनुवाद

प्रभो! आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। अतएव आपके लिये हजारों बार नमस्कार है, फिर भी बारम्बार नमस्कार है।।३९।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को वायु कहा गया है, क्योकि वह सर्वव्यापक प्रधान देवता है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को पितामह भी कहा है।कारण, वे जगत् के प्रथम जीव—ब्रह्मा के पिता हैं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

अनुवाद

हे अनन्त सामर्थ्य वाले प्रभो! आपको आगे से नमस्कार है और पीछे से भी नमस्कार है। हे अमितपराक्रम! आप सब संसार को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिए आप ही सर्वरूप है।।४०।।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

अनुवाद

हे अचिन्त्यप्रभाव प्रभो ! आपकी इस महिमा को न जानते हुए, सखा मानकर मैंने आपको प्रेम से अथवा प्रमाद से भी 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !'—ऐसे सम्बोधित किया है और हे अच्युत! विहार, एक शय्या पर शयन करते हुए तथा साथ-साथ भोजन आदि में अनेक बार अकेले में अथवा उन सखाओं के सामने भी आप मेरे द्वारा अपमानित किये गये। कृपया मेरा वह सब अपराध क्षमा करें।।४१-४२।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।

अनुवाद

हे विष्णो ! आप इस चराचर सम्पूर्ण जगत् के पिता और परम पूजनीय गुरु हैं। हे अनन्त-प्रभाव ! त्रिलोकी में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे होगा ?।।४३।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

अनुवाद

प्रभो! आप प्राणीमात्र के आराध्य परमेश्वर हैं। इस कारण हे नाथ! मैं आपके चरणों में गिरकर और प्रणाम करके आपकी कृपा की याचना करता हूँ। मेरे अपराधों को क्षमा करके मुझ पर उसी भाँति प्रसन्न हो जाइये, जैसे पिता पुत्र के, सखा सखा के और प्रेमी अपने प्रियतम के अपराध को सहन करता है।।४४।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अनुवाद

हे नाथ! पहले न देखे हुए आपके इस अद्भुत विश्वरूप के दर्शन से मैं हर्षित हो रहा हूँ; पर मेरा चित्त भय से आकुल भी हो रहा है। इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! मुझ पर प्रसन्न होकर अपने उसी चतुर्भुज रूप को फिर से प्रकट कीजिये।।४५।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

अनुवाद

हे विश्वमूर्ति! मैं आप को मुकुट धारण किये हुए तथा शंख, चक्र, गदा और पद्म से युक्त चतुर्भुज रूप मे देखने को आतुर हूँ। इसलिए हे सहस्रबाहु! अपने उसी चतुर्भुज रूप को प्रकट कीजिए।।४६।।

तात्पर्य

'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है कि श्रीभगवान् नित्य सहस्रो रूपो में हैं, जिनमे राम, नृसिह, नारायण, आदि रूप प्रधान हैं। उनके ऐसे असख्य रूप हैं। अर्जुन जानता है कि अस्थायी विश्वरूप को धारण करने वाले श्रीकृष्ण साक्षात् स्वय भगवान् है, इसलिए अब वह उनका चिन्मय नारायण रूप देखना चाहता है। इस श्लोक से श्रीमद्भागवत का यह सिद्धांत निश्चित होता है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अन्य सब रूपो का प्रादुर्भाव उन्ही से है। वे अपने अंशों से भिन्न नहीं है; अपने प्रत्येक रूप में वे

भगवान् हैं। सभी रूपों में श्रीकृष्ण नित्य नवकिशोर रहते हैं, क्योंकि यह भगवान का शाश्वत् स्वरूप-लक्षण है। श्रीकृष्ण को इस प्रकार जानने वाला तत्काल प्राकृत-जगत् के सम्पूर्ण दोषों से मुक्त हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच।
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मैंने तुझ पर अनुग्रहपूर्वक प्राकृत-जगत् के अन्तर्गत यह विश्वरूप तुझे अपनी योगशक्ति के प्रभाव से दिखाया है। तेरे पूर्व किसी ने भी इस अनन्त तेजोमय रूप को नहीं देखा है।।४७।।

तात्पर्य

अर्जुन को श्रीभगवान् के विश्वरूप के दर्शन की अभिलाषा थी। अतएव अपने भक्त के लिये स्वरूपभूता करुणा से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण ने उसी पूर्ण तेजोमय और ऐश्वर्यशाली विश्वरूप का दर्शन कराया। यह रूप सूर्य के सदृश तेजोमय था और उसके अनेक मुख थे, जो तीव्र गति से परिवर्तनशील थे। सखा अर्जुन को मनोकामना-पूर्ति के लिये ही श्रीकृष्ण ने वह रूप दिखाया। इसे उन्होंने अपनी योगशक्ति के प्रभाव से प्रकट किया, जिसका तत्त्व मनुष्य के लिए अचिन्त्य है। अर्जुन से पूर्व श्रीभगवान् के इस रूप को किसी ने नहीं देखा था। किन्तु अर्जुन को दिखाये जाते समय स्वर्ग और अन्तरिक्ष के अन्य लोकों में स्थित भक्तों को भी इसका दर्शन हुआ। भाव यह है कि श्रीकृष्ण ने अनुग्रहपूर्वक अर्जुन के प्रति जिस विश्वरूप को प्रकट किया, उसका दर्शन उनके सभी परम्परागत भक्तों को हुआ। एक व्याख्याकार का कथन है कि जब श्रीकृष्ण सन्धि-प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास गए थे, तो उसे भी विश्वरूप का दर्शन हुआ था। दुर्भाग्यवश, दुर्योधन ने शान्ति-प्रस्ताव को नहीं माना। इस पर श्रीकृष्ण ने अपने कतिपय विराट् रूप प्रकट किये। वे रूप अर्जुन को दिखाये इस रूप से भिन्न हैं। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि इस रूप को पूर्व में किसी ने कभी नहीं देखा।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

अनुवाद

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! तुझ से पहले किसी ने भी मेरे इस विश्वरूप का दर्शन नहीं किया है, क्योंकि न वेदों के स्वाध्याय से, न यज्ञों से, न दान से और न तपादि के द्वारा ही मेरा यह विश्वरूप देखा जा सकता है। केवल तूने इसका दर्शन किया है।।४८।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

अनुवाद

मेरे इस भयंकर रूप को देखकर तू बिल्कुल व्याकुल और मोहित मत हो। हे भक्तशिरोमणि! भय से मुक्त होकर प्रीतिभरे मन से मेरे उसी रूप का दर्शन कर जिसके लिए तू इतना उत्कण्ठित है।।४९।।

सञ्जय उवाच।
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

अनुवाद

संजय ने कहा, भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार कहकर उसे चतुर्भुज रूप दिखाया और अन्त में फिर अपना द्विभुज रूप धारण करके भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया।।५०।।

तात्पर्य

जब वसुदेव और देवकी के पुत्ररूप में श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ, तो पहले-पहले वे चतुर्भुज नारायण रूप में ही प्रकट हुए थे। तत्पश्चात्, माता-पिता के प्रार्थना करने पर उन्होंने साधारण बालक का सा रूप धारण कर लिया। यहाँ भी श्रीकृष्ण जानते हैं कि अर्जुन की रुचि वास्तव में उसके चतुर्भुजरूप को देखने में नहीं

है। तथापि, उसके द्वारा कहे जाने पर उन्होंने इस रूप को भी पुनः दिखाया और फिर अपना द्विभुजरूप प्रकट किया। **सौम्यवपु** शब्द आशयपूर्ण है। इसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण का द्विभुजरूप 'अतिशय मधुर' है। वास्तव में परम आकर्षक है। इसी से जब वे इस धरा-धाम पर थे, तो प्राणीमात्र उनके रूप-लावण्य पर मंत्र-मुग्ध की भाँति अनुरक्त हो गया था। श्रीकृष्ण जगत् के नियन्ता हैं, इसलिए अपने भक्त अर्जुन के भय का पूर्ण रूप से निवारण करके अपने मधुरातिमधुर रूप को उन्होंने फिर दिखाया। 'ब्रह्मसंहिता' के अनुसार जिसके नेत्र प्रेमरूपी अंजन से विच्छरित (उपलिप्त) हों, वही श्रीकृष्ण की इस रूप-माधुरी का दर्शन-आस्वादन कर सकता है।

अर्जुन उवाच।
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

अनुवाद

जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण के मूल द्विभुजरूप का दर्शन किया तो वह कहने लगा, प्रभो! आपके इस परम मधुर नराकार रूप को देखकर अब मैं शान्तचित्त हुआ अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ।।५१।।

श्रीभगवानुवाच।
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।।५२।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे जिस रूप का तू अब दर्शन कर रहा है, वह देखने को अति दुर्लभ है। देवता भी इस मधुर रूप को देखने के लिये नित्य उत्कण्ठित रहते हैं।।५२।।

तात्पर्य

इस अध्याय के अड़तालिसवें श्लोक में विश्वरूप का संवरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है कि विविध पुण्यकर्मों, यज्ञादि साधनों से भी इस रूप को देखा नहीं जा सकता। यहाँ **सुदुर्दर्शनम्** शब्द आया है, जिसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण के द्विभुज रूप का दर्शन तो उस विश्वरूप से भी कहीं अधिक दुर्लभ है। तपश्चर्या, वेदाध्ययन, दार्शनिक मनोधर्म आदि विभिन्न क्रियाओं में भक्ति का कुछ पुट हो, तभी विश्वरूप का दर्शन हो सकता है। भक्ति के बिना विश्वरूप का दर्शन कभी

नही हो सकता, यह विवेचन किया जा चुका है। इस विश्वरूप से अतीत होने के कारण श्रीकृष्ण के द्विभुज नराकार रूप का दर्शन तो और भी अधिक दुर्लभ है। ब्रह्मा, शिव आदि देववृन्द तक श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ नित्य लालायित रहते हैं। श्रीमद्भागवत में प्रमाण है कि जब वे माता देवकी के गर्भ में थे, तब स्वर्ग के सभी देवता उनके माधुर्य का दर्शन-आस्वादन करने वहाँ आये। उन्होंने प्रभु के प्रकट होने की आतुर-भाव से प्रतीक्षा भी की। मूर्ख मनुष्य उनका उपहास कर सकता है, परन्तु ऐसे साधारण मनुष्य का मूल्य ही क्या है। श्रीकृष्ण के द्विभुज रूप को देखने की स्पृहा तो वस्तुत ब्रह्मा, शिव, आदि देवताओं तक को रहती है।

भगवद्गीता मे यह भी प्रमाणित किया है कि श्रीकृष्ण उन मूर्खों के दृष्टिगोचर नही होते, जो उनका उपहास करते हैं। जैसा 'ब्रह्मसंहिता' तथा भगवद्गीता मे स्वय श्रीभगवान् के वचन से सिद्ध है, श्रीकृष्ण का विग्रह पूर्ण रूप से अप्राकृत और सच्चिदानन्दमय है, अर्थात् प्राकृत देह से बिलकुल भिन्न है। परन्तु कुछ लोग भगवद्गीता आदि वैदिक शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानने में सफल नहीं हो पाते। प्राकृत दृष्टिकोण वाले उन्हें केवल एक महान् ऐतिहासिक पुरुष या विद्वद्वरेण्य परम दार्शनिक मानते हैं। किंतु वास्तव में वे सामान्य मनुष्य नहीं हैं। कुछ का विचार है कि यद्यपि वे अतीव शक्तिशाली थे, फिर भी उन्हे प्राकृत शरीर धारण करना पड़ा। इसका कारण है—इस कोटि के मनुष्य परमसत्य को अन्तिम रूप मे निर्विशेष ही मानते है। उनके अनुसार, परमेश्वर अपने निर्विशेष रूप से मायिक भगवत्-रूप धारण करता है। यह श्रीभगवान् के सम्बन्ध मे प्राकृतधारणा है। एक अन्य मनोधर्ममयी धारणा भी है। ज्ञान के जिज्ञासु श्रीकृष्ण के तत्त्व का अनुमान लगाते है। उनके अनुसार परमसत्य का कृष्णरूप अर्जुन को दिखाये गये विश्वरूप से कम है। वे परमसत्य के साकार-सविशेष रूप को कल्पित मानते है। उनका विश्वास है कि अन्तिम रूप में परमसत्य पुरुष-विशेष न होकर निर्विशेष है। इसके विपरीत, अलौकिक पद्धति का प्रतिपादन गीता के द्वितीय अध्याय मे है— प्रामाणिक आचार्यों से रसमयी श्रीकृष्णकथा सुनना। वास्तव में यही सच्चा वैदिकपथ है। अतएव जो यथार्थ वैदिक परम्परा में हैं, वे आचार्यों से कृष्णकथा सुनते हैं। इस प्रकार निरन्तर कृष्णकथा सुनने से श्रीकृष्ण में अनुराग हो जाता है। बहुधा वर्णन किया जा चुका है, कि श्रीकृष्ण अपनी योगमाया-शक्ति से छिपे हुए हैं। वे सब किसी के आगे दृष्टिगोचर अथवा प्रकट नहीं होते; उनका दर्शन उसी को होता है, जिसके प्रति वे स्वयं अपने को प्रकाशित करें। वेदों में इसकी पुष्टि है—केवल शरणागत जीव परम सत्य को तत्त्व से समझ सकता है। अतएव नित्य-निरन्तर कृष्णभावनामृत-सिन्धु में निमग्न

योगी श्रीकृष्ण की भक्ति के प्रताप से प्राप्त दिव्य दृष्टि के द्वारा श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार का साक्षात्कार देवताओं तक के लिये परम दुर्लभ है; वे भी श्रीकृष्ण को तत्त्वत- नहीं जान सकते। उच्च देवताओं को निरन्तर श्रीकृष्ण के द्विभुज रूप के दर्शन की उत्कण्ठा रहती है। इस सब का निष्कर्ष है कि चाहे श्रीकृष्ण के विश्वरूप का दर्शन बडा दुर्लभ है और जिस-किसी को नही हो सकता, परन्तु उनके श्यामसुन्दर स्वरूप का दर्शन और ज्ञान तो इससे भी कहीं दुर्लभ है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

अनुवाद

हे अर्जुन! मेरे जिस रूप को तू अपने दिव्य नेत्रों से देख रहा है, उसे न वेदों से, न तप से, न दान से, और न केवल पूजा से ही जाना जा सकता है। इन साधनो के द्वारा मेरा तत्त्व से साक्षात्कार नही हो सकता।।५३।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।५४।।

अनुवाद

हे अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा ही तेरे सामने खड़े मुझ को तत्त्व से जाना और प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भक्तियोग से ही मेरे तत्त्व के रहस्य में तेरा प्रवेश हो सकेगा।।५४।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो मनुष्य पूर्वकृत सकाम कर्म और ज्ञान से मुक्त होकर मेरी शुद्धभक्ति मे तत्पर है और मेरे परायण है तथा प्राणीमात्र का मित्र है, वह निस्सन्देह मुझ को ही प्राप्त होता है।।५५।।

तात्पर्य

जो परमधाम कृष्णलोक में पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त होकर उनसे अतरंग सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, उसे स्वयं श्रीभगवान् द्वारा कहे इस मन्त्र को

अंगीकार करना होगा। अतएव इस श्लोक को गीता का सार कहा जा सकता है। भगवद्गीता ग्रन्थ का प्रयोजन उन बद्धजीवों से है, जो प्रकृति पर प्रभुत्व करने के उद्देश्य से इस प्राकृत-जगत् में क्रियाशील हैं और जिन्हें यथार्थ भागवतजीवन का ज्ञान नहीं है। भगवद्गीता स्वरूपभूत आत्मतत्त्व और श्रीभगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को जानकर अपने घर—भगवान् के धाम को लौटने का मार्ग प्रशस्त करती है। इस श्लोक में पारमार्थिक क्रिया—भक्तियोग में सफलता की पद्धति का स्पष्ट प्रतिपादन है। जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है, अपनी सम्पूर्ण शक्ति कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में ही लगानी चाहिये। ऐसा कोई कार्य न करे, जो श्रीकृष्ण की सेवा से सम्बन्ध न रखता हो। इसकी संज्ञा **कृष्णकर्म** है। विविध क्रियाओं में तत्पर रहा जा सकता है; परन्तु इनके फल में आसक्त न होकर उसे श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यापार करता हो तो व्यापार के लाभ को श्रीकृष्ण की सेवा में लगाने से वह भी कृष्णभावनाभावित कर्म बन जायगा। भक्त की दृष्टि में व्यापार के स्वामी श्रीकृष्ण हैं। अतः लाभांश का उपभोग भी वे ही करें। इस प्रकार प्रत्येक व्यापारी अपने धन को श्रीकृष्ण के प्रति अर्पण कर सकता है। यह श्रीकृष्ण का सेवाकार्य है। निजेन्द्रियतृप्ति के लिये भवन बनाने के स्थान पर वह श्रीकृष्ण के लिये एक सुन्दर मन्दिर बनाकर श्रीकृष्ण-मूर्ति को स्थापित कर शास्त्र-विधि से उनकी सेवा की व्यवस्था कर सकता है। यह सब **कृष्णकर्म** है। कर्मफल में अनासक्त रहकर उसे श्रीकृष्ण को समर्पित कर देना चाहिये। श्रीकृष्ण को अर्पित नैवेद्य को प्रसाद के रूप में ग्रहण करे। यदि मन्दिर-निर्माण की सामर्थ्य न हो तो श्रीकृष्ण के मन्दिर का मार्जन ही करे। यह भी **कृष्णकर्म** है। पुष्पवाटिका लगाये। उपलब्ध भूमि पर पुष्प लगाकर उनसे श्रीकृष्ण का श्रृंगार करे। तुलसी-कानन लगाना अत्यन्त आवश्यक है; स्वयं श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में इसका विधान किया है। श्रीकृष्ण चाहते हैं कि भक्तिभाव से उन्हें पत्र-पुष्प अथवा केवल जल का ही अर्पण किया जाय। वे इतने से ही प्रसन्न हो जाते हैं। **पत्रपुष्प** से विशेषतः तुलसी का निर्देश है। अतएव तुलसी लगाकर उसका अभिसिंचन करे। इस प्रकार परम दरिद्री भी कृष्णसेवा कर सकता है। **कृष्णकर्म** करने के ये कुछ उदाहरण हैं।

मत्परमः शब्द उस मनुष्य का वाचक है, जो परमधाम में श्रीकृष्ण के संग की प्राप्ति को जीवन की परम सिद्धि मानता है। चन्द्र, सूर्य आदि उच्च लोकों की तो बात ही क्या, ऐसा व्यक्ति तो इस ब्रह्माण्ड के परमोच्च लोक—ब्रह्मलोक को भी नहीं जाना चाहता। इसके लिए उसमें कोई आकर्षण नहीं होता। उसे तो बस परव्योम गमन की स्पृहा लगी रहती है। परव्योम में भी उसे देदीप्यमान ब्रह्मज्योति में विलीन होने से

सन्तोष नहीं होता। वह केवल श्रीकृष्ण के गोलोक वृन्दावन नामक परमधाम में प्रवेश करना चाहता है। उस परमलोक का पूर्ण तत्त्वज्ञान हो जाने पर फिर किसी अन्य लोक में रमणीय बुद्धि नहीं रह सकती। जैसा **मद्भक्त** शब्द से स्पष्ट है, वह अनन्य भाव से भक्तियोग में पूर्णरूप से मग्न रहता है। विशेष रूप से वह श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्ति के इन नौ साधनों के परायण रहता है। मनुष्यमात्र यथाशक्ति भक्ति के इन नौ अंगों का, आठ का, सात का अथवा एक ही अग का आचरण करे। ऐसा करने से जीवन् अवश्य सार्थक एवं कृतार्थ हो जायगा।

संगवर्जितः पद अति महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण-विमुखों के संग को बिल्कुल त्याग देना चाहिए। केवल अनीश्वरवादी ही श्रीकृष्ण से विमुख नहीं हैं, सकाम कर्म और मनोधर्म के परायण रहने वाले भी इसी कोटि में आते हैं। **भक्तिरसामृतसिन्धु** में शुद्धभक्ति का यह विवरण है: **अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतं आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।** इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामिचरण ने निश्चित रूप से कहा है कि शुद्ध-अनन्य भक्ति करने के लिये सब प्रकार के सांसारिक विकारों से मुक्त होना आवश्यक है। शुद्धभक्ति के अभिलाषी को सकामकर्म और मनोधर्म में आसक्त मनुष्यों के संग का भी त्याग करना होगा। इन अनर्थकारी संगों और विषयवासना के दोष से मुक्त होकर अनुकूलतापूर्वक श्रीकृष्ण के सेवन को शुद्धभक्ति कहा जाता है। ***आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।*** श्रीकृष्ण का स्मरण और कृष्णकर्म अनुकूलभाव से करे, प्रतिकूलतापूर्वक नहीं। कंस श्रीकृष्ण का वैरी था। अतः उनके जन्म से ही वह उन्हें मारने के लिये योजनायें बनाने लगा। परन्तु ऐसा करने में सदा असफल रहने के कारण उसे नित्य श्रीकृष्ण का स्मरण बना रहता। अतएव कार्य करते, खाते, यहाँ तक कि सोते हुए भी वह सब प्रकार से कृष्णभावनाभावित रहता। परन्तु उसकी कृष्णभावना अनुकूल नहीं थी; इस कारण नित्य चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण के चिन्तन में निमग्न रहने पर भी उसे असुर ही माना गया और अन्त में श्रीकृष्ण ने उसका वध किया। यह अवश्य सत्य है कि श्रीकृष्ण जिसका वध करते हैं, वह तत्क्षण मुक्त हो जाता है। किन्तु शुद्धभक्त का लक्ष्य यह नहीं है। शुद्धभक्त को तो मुक्ति की भी स्पृहा नहीं रहती। परमधाम गोलोक वृन्दावन मे प्रवेश करने के लिए भी वह आतुर नहीं होता। वह जहाँ कहीं भी रहे, उसका एकमात्र लक्ष्य श्रीकृष्ण की सेवा के परायण रहना है।

कृष्णभक्त प्राणीमात्र में मित्रभाव रखता है। इसीलिए यहाँ कहा है कि उसका कोई शत्रु नहीं होता। यह कैसे हो सकता है? कृष्णभावनाभावित भक्त जानता है कि

एकमात्र कृष्णभक्ति ही जीव को जीवन के सब दु:खों से मुक्त कर सकती है। उसे इसका निजी अनुभव है, इसलिए वह मानवसमाज में कृष्णभावना-पद्धति का प्रवर्तन करना चाहता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध है, जब भक्तो ने भगवद्भावना के प्रसार के लिये अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दिया। इस सन्दर्भ में श्रीईसामसीह का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। उन्होंने भगवद्भाव के प्रचार में अभक्तों द्वारा सूली पर चढ़ाये जाने पर प्राणों की आहुति दी थी। अवश्य ही, ऐसा नहीं कि इस कारण उनकी मृत्यु हो गई। इसी प्रकार, भारत में हरिदास ठाकुर आदि भक्तों के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। भक्त अपने प्राणो को संकट मे डालते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य है कि कृष्णभावना का प्रसार-प्रचार हो और यह कार्य सुगम नहीं है। कृष्णभावनाभावित पुरुष जानता है कि मनुष्य के दु:ख का कारण श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल बैठना है। अतएव किसी को भवरोग से मुक्त कर देना मानवसमाज का सबसे श्रेष्ठ उपकार-कार्य होगा। इस प्रकार शुद्धभक्त निरन्तर भगवत्-सेवा में तत्पर रहता है। इस सबसे हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि श्रीकृष्ण उन भक्तों पर कितनी अतिशय कृपा का परिवर्षण करते होंगे, जो अपना सर्वस्व दाँव पर लगा कर उनकी सेवा के परायण हैं। यह निश्चित है कि ये भक्त देह-त्याग कर श्रीकृष्ण के परमधाम को अवश्य प्राप्त हो जायेंगे।

सारांश मे कहा जा सकता है कि इस अध्याय मे श्रीकृष्ण ने अपना अस्थायी विश्वरूप, सब का नाश करने वाला महाकालरूप और चतुर्भुज विष्णुरूप भी प्रकट किया है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्ण इन सब रूपो के उद्गम हैं। यह सत्य नहीं कि विश्वरूप आदि है और श्रीकृष्ण उसके अथवा विष्णुरूप के प्रकाश-विशेष हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण ही सब रूपों के मूल हैं। विष्णुरूप असंख्य हैं, पर भक्त के लिये श्रीकृष्ण के मूल, द्विभुज श्यामसुन्दर रूप के अतिरिक्त अन्य कोई रूप महत्त्व नहीं रखता। **ब्रह्मसंहिता** के अनुसार श्रीकृष्ण के श्यामसुन्दर रूप में प्रेमभक्तिभाव वाले अनुरागी भक्तों को हृदय में नित्य निरन्तर उनका दर्शन हुआ करता है, अन्य कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता। अतएव, ग्यारहवें अध्याय का तात्पर्य है कि श्रीकृष्ण का श्यामसुन्दर रूप परम सार और सर्वोपरि है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ।।११।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये एकादशोऽध्यायः ।।